योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 32 जुलाई, 1999 अंक 4

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
JULY, 1999

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	8-00
वार्षिक शुल्क	रु०	75-00
द्विवार्षिक	रु०	140-00
आजीवन	रु०	750-00

इस अंक में

❒ अमृतकण.................................. 2

❒ विशेष लेख
अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज... 3

❒ सम्पादकीय.............................. 9

❒ सद्गुरु साधना के चार अंग
चन्द्रहास शर्मा.......................... 12

❒ उठो ! जागो ! आगे बढ़ो !!
श्रीमती सरिता भारद्वाज............... 15

❒ अद्भुत कृपालीला
राजेश कुमार श्रीवास्तव.............. 18

❒ किमस्ति योग:
द्वारका प्रसाद शर्मा.................... 24

❒ सांख्य योग और कर्मयोग
डा० स्वामी केशवाचार्य................ 28

❒ ठाकुर राजकुमार को अशरण शरण
केशवदेव उपाध्याय..................... 32

❒ संत ज्ञानेश्वर एक महानंयोगी
जय नारायण............................ 37

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 32
अंक 4

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

जुलाई
1999

अहह ! गहनो मोह महिमा

अजानन दाहात्म्यं पततु शलभस्तु तीव्र दहने

स मीनोऽप्यज्ञानाद् बड़िशयुतमश्नातु पिशितम्

विजानन्तोऽप्येते वयमिह वियज्जाल जटिलान्

न मुञ्चामः कामानहह ! गहनों मोह महिमा।

(वैराग्यशतक/१८)

अर्थात्

शलभ (पतंगा) आग के जलाने के स्वभाव को न जानने के कारण उस में गिरे अर्थात् भले ही जलकर मर जाये। इसी प्रकार वह मत्स्य मालूम न होने से बंसी (काँटा) में लगे हुये माँस को भले ही खा जाने की चेष्टा करें किन्तु इस लोक में विनिपात का कारण विशेष रूप से जानते हुये भी हम लोग विपत्तियों के जाल से कठिन काम–वासनाओं को नहीं छोड़ते। खेद का विषय है, अज्ञान की महिमा गहन है—जानना कठिन है।

अमृत कण

तं दुदर्शं गूढ़मनु प्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

कठोपनिषद् १/२/१२

आत्म योग द्वारा देहस्थ हृदय गुहा में निवास करने वाले देवता की जब अनुभूति होती है तब साधक हर्ष और शोक दोनों का परित्याग करने में समर्थ होता है, समस्त जगत उसी आत्मा का स्वरूप है उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। जब साधक को आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे लौकिक विषय की वस्तुयें प्राप्त होने में हर्ष नहीं होता और उनके न मिलने से शोक भी नहीं होता।

***

अद्यैव कुरू यच्छ्रेयोवृद्धः सन् किं करिष्यति।
स्वगात्राण्यापि भाराय भविन्त हि विपर्य्यये।।

योग वाशिष्ठ

जो कल्याणकारी वस्तु है उसे आज ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। वृद्ध होने पर क्या कर सकोगे। उस समय अपना शरीर ही अपने को भार रूप जान पड़ता है और शुभ कर्म करने के लिये उपयुक्त नहीं रहता।

***

□ विशेष लेख

कर्म और उसके प्रकार

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैं तुम्हें बताता हूँ कि हमारा कर्माशय कैसे तैयार होता है और कर्म कितने प्रकार के होते हैं। देखो ! हमारे चित्त में कर्म के संस्कार (वासना) पड़े रहते हैं उनका ही भुगतान करने के लिये हमें नाना शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। चित्त में पड़े संस्कारों के अनुसार ही कर्म बनते हैं और पुनः कर्म से संस्कार बनते हैं इस प्रकार से यह कर्म चक्र बना ही रहता है। बीज से वृक्ष तथा पुनः वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार से कर्म एवं उसका बीज संस्कार का क्रम अनवरत बना चला हुआ है। हमारे तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं।

(१) क्रियमाण कर्म (२) संचित कर्म तथा

(३) प्रारब्ध कर्म

(१) क्रियमाण कर्म वे कहलाते हैं जो अभी किये जा रहे हैं। जैसे इस समय हम यज्ञ कर रहे हैं दान कर रहे हैं, ध्यान एवं जापादि कर रहे हैं। यह क्रियमाण कर्म है इसे **भुज्य मान कर्म** भी कहते हैं। यह अभी भोगे जाने वाले कर्म होते हैं।

(२) संचित कर्म वे कहलाते हैं जो हमारे जन्म जन्मान्तर में किये हुये कर्म हैं, किन्तु जिनका फल भोग अभी हमें नहीं मिला है। इनका भोग काल अभी नहीं आया है, इसलिये ये कर्माशय में पड़े हुये हैं। ये इतने अधिक हैं कि इनका भुगतान होना भी कठिन है। जिस प्रकार से माल–गोदामों में अनाज जमा रहा करता है उसी प्रकार से कर्म भोग देने के लिये कर्म संस्कार के रूप में हमारे चित्त में कर्माशय के रूप में ढेर के ढेर पड़े हुये हैं ये **संचित कर्म** कहलाते हैं।

(३) प्रारब्ध कर्म वे होते हैं जैसे माल गोदाम में पड़े अन्न के ढेर में से कुछ अन्न हम उपयोग के लिये बाहर निकाल लेते हैं। कर्म समुच्चय में से कुछ कर्म निकाल कर एक कर्माशय तैयार करते हैं। हमारा प्रारब्ध कैसे तैयार होता है मैं इसे तुम्हें स्पष्ट कर देता हूँ। हमारे कर्माशय (कर्म समुच्चय) में से एक कर्म मुखिया बनता है वह चाहे पाप का हो अथवा पुण्य का हो। वह मुखिया कर्म अपने ही जैसे पाप या पुण्य संस्कारों को लेकर एक प्रारब्ध तैयार करता है। जो एक जन्म का कारण बनता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही सहजा प्रकृति बनती है। योग दर्शन में एक सूत्र में बतलाया गया है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुभोगः अर्थात अविद्या के मूल से रहते हुये उस के विपाक के रूप में जीव के जाति, आयु एवं भोग मिलते हैं अर्थात् जीव के मृत्यु से पहले ही अगला शरीर, आयु और

सुख दुःख रूप भोग का निश्चय हो जाया करता है। कर्म समुच्चय में ये यदि पुण्य कर्म मुखिया बन जाये तो वह व्यक्ति प्राणी मात्र पर दया करने वाला सद्भावना रखने वाला, परोपकारी धर्मात्मा, निरोग, स्वस्थ एवं दीर्घायु वाला होता है। यज्ञ, दान, स्वाध्याय व ईश्वर चिन्तन उसके स्वभाव में होता है यदि मृत्यु के समय कोई पाप कर्म कठोर कर्म मुखिया बन जाता है तो वह व्यक्ति अभिमानी काम–क्रोध में लिप्त रहने वाला दुराचारी हिंसात्मक प्रकृति का, अन्यायी तथा रोगी होता है। अन्त समय में मृत्यु के समय अच्छा बुरा कौन सा कर्म सामने आयेगा यह कहा नहीं जा सकता। क्लिष्ट संस्कार अधिक क्लिष्ट होने पर उस दुःख की भावना से भावित रहने के कारण मनुष्य का मानव देह छूट जाता है और वह निम्न योनियों में चला जाता है। एक साधारण मनुष्य जब मरने लगता है जो सन्तो का कहना है कि उसे एक हजार बिच्छू के काटने के बराबर दुःख होता है जो पापात्मा होता है उसे मौत के समय दस हजार बिच्छू के एक साथ काटे जाने के बराबर दुःख होता है। बड़ी ही मुश्किल से उसके प्राण निकला करते हैं। प्राण निकलने के बाद भी वह अनुभव करता रहता है अमुक–अमुक मेरे रिश्तेदार व प्यारे थे उनकी शक्लें ऐसी थीं किन्तु अंधकार में उसे कुछ दिखाई नहीं देता था। वह मारा–मारा फिरता है। तुम्हें इस बात का पता भी होगा कि हमारे हिन्दू धर्म में किसी की मृत्यु हो जाने के बाद चौराहे पर दीपक रख देते हैं तब ब्राह्मण संकल्प करता है कि गतात्मा की अंधकार निवृत्ति के लिये दीप दान कर रहे हैं। देखो ! यदि कोई शक्ति वाला दीपक लगा रहे हो तब तो और बात है किन्तु साधारण व्यक्ति के दीया लगाने से उसका अंधकार दूर हो जाये यह जरा असंभव सी बात है। किन्तु फिर भी रिवाज है इसलिये लगाते हैं। मृत्यु काल में हमारे यहाँ एक और भी रिवाज है मिट्टी के दीवले से उसके मुख में एक–एक बूंद पानी डाला करते हैं ताकि जीवात्मा प्यासा न चला जाये। प्रयाण काल में प्राणों के घर्षण से जीव को बहुत प्यास लगती है। इसलिये उसे थोड़ा–थोड़ा करके पानी पिलाया जाता है। जीव फिर भी घोर दुःख भोगता हुआ शरीर छोड़ देता है। उसकी मृत्यु के बाद भी पीपल के पेड़ में घड़ा लटका दिया जाता है और उसमें एक छोटा सा छेद कर दिया जाता है जिसमें से एक–एक बूंद पानी आया करता है। इसका भी प्रयोजन यही है कि जीवात्मा को पीने का पानी मिल जाये। स्थूल शरीर से तो उसका सम्बन्ध छूट जाता है; किन्तु मन का सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर के बिना वह पानी नहीं पी सकता। इस प्रकार से वह तड़पता हुआ जाता है और जब तक दोबारा जन्म नहीं होता तब तक तड़पता ही रहता है। इसी प्रकार से पिशाचयोनि, ब्रह्म राक्षस आदि योनियाँ हैं। जिनमें प्यास लगी रहती है और जीव को घोर दुःख होता रहता है। इसीलिए मानव शरीर से ही इन दुःखों से छूटने का उपाय किया जा सकता है। देह छूटने से पहले ही जिस योनि, आयु एवं भोग के निश्चय की बात कही गई है वह ही **प्रारब्ध** कहलाता है। सामान्य नियम यह है कि **'प्रारब्ध कर्मणाम योगादेव क्षय:'**

प्रारब्ध कर्म का भोग से ही क्षय होता है। प्रारब्ध कर्म में भी पाप पुण्य सदा रले—मिले रहते हैं। अच्छे संस्कार वश पुण्य कर्म करते हुये भी बीच—बीच में क्लिष्ट संस्कारों का व्यवधान आ जाया करता है इसी प्रकार से क्लिष्ट अर्थात् दुःखमय संस्कारों को भुगतान करते हुये भी पुण्य के संस्कार बीच—बीच में आते रहते हैं। **क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।।**

इसीलिये यह देखा जाता है कि डाकू आदि क्रूर वृत्ति के व्यक्ति भी पुण्य कर्म करने लगता है। कई डाकुओं ने अनेक गरीब कन्याओं की शादियां कराईं। गौशाला बनवाये। विद्यालयों तथा मन्दिरों की स्थापना की। इसी प्रकार से पुण्य कर्म के परिणाम स्वरूप सुख भोगते हुये भी दुःख आ जाया करते हैं। हमें स्वस्थ शरीर, सुन्दर मकान, विपुल धन एवं अन्य सुख सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं। इससे हमारी राजस वृत्ति बनती है। हमारी भीतरी जगत को जगाने की प्रवृत्ति नहीं बनती। पुण्य का प्रारब्ध भोगते—भोगते, क्लिष्ट कर्म—बुरे कर्म का व्यवधान आ जाने पर हमें कई प्रकार के दुःख एवं रोग घेर लेते हैं। जब मैं लाहौर में योग प्रचार कार्यक्रम चला रहा था उस समय हमारे पास एक वकील आया करता था उसका नाम नियामत राय था। वह बहुत नामी वकील था। बीसियों वकील उस के अधीन काम किया करते थे। पैसा उसके पास बहुत था। किन्तु उसकी हालत बड़ी दयनीय थी। उसकी दो स्त्रियाँ थीं जो उससे लड़ती झगड़ती रहती थीं। उसे पायोरिया रोग भी लगा हुआ था। पेट उसका बहुत बड़ा था। प्रायः उदराध्मान—अफारा से—पीड़ित रहा करता था। कुछ खा—पी नहीं सकता था। हमारे पास योग साधना के लिये आया करता था। उसने हमसे कहा महाराज जी ! लाखों की सम्पत्ति होने पर भी मैं दुःखी ही रहता हूँ।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि दुःख सम्पत्ति तथा अन्य सुख सुविधाओं के रहते हुये भी क्लिष्ट संस्कारों का प्रवाह आ जाया करता है तो मनुष्य दुःखी हो जाता है। इसलिये योगी लोग सुख को भी दुःख की दृष्टि से ही देखते हैं **'सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः'**। संसार चक्र को काटने का उपाय योग साधना ही है। एक पल का संस्कार भी किसी के प्रति बन जाता है तो वह संस्काराशय में पड़ा रहता है। समय आने पर वह भुगतान में आता है।

एक बार लाहौर में हमारे बड़े गुरु भाई श्री मुलखराज जी महाराज के पास कोई महात्मा आया। थोड़ी देर बातचीत की और फिर कहने लगा— हमारे इतनी देर के बातचीत के यह संस्कार पिछले तीन जन्मों से चले आ रहे हैं। मैंने आज यह संस्कार पूरा कर दिया। अब हमारा तुम्हारा कोई संस्कार नहीं है। इसलिये सभी को अपना अलग प्रारब्ध शुभ बनाने के लिये ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिये। योगदर्शन में कर्म की चार जातियाँ बताई हैं।

आशुक्लाकृष्ण योगिनाम् त्रिविधमितरेषाम्

अर्थात्

योगियों के कर्म न पुण्य के होते हैं और न पाप के अर्थात् पाप—पुण्य रहित होते हैं। संसारी व्यक्तियों के तीन प्रकार के कर्म होते हैं शुक्ल कर्म

(पुण्य कर्म) कृष्ण कर्म (पाप कर्म) तथा शुक्ल कृष्ण मिश्रित कर्म। संसारी व्यक्तियों के ये तीन प्रकार के कर्म ही बार-बार जन्म मरण के कारण बनते हैं। एक कर्म के विपाक् को भोगते हुये उसी से दूसरा कर्म तैयार हो जाता है। आरब्ध के जिस प्रकार का भुगतान चलता है वह पुनः अपने जैसे कर्म संस्कार तैयार कर लेता है। मनुष्य जीवन में कुछ ऐसे भी कर्म बन सकते हैं जो रेख पर मेख लगाने वाले हैं। योग दर्शन में **'क्लेशमूल: कर्माशय: दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीय:'** यह सूत्र आया है। इसका अर्थ है कि हमारा कर्माशय क्लेश मूलक होता है। हमें अपने कर्मों के फल दृष्ट जन्म में तथा अदृष्ट जन्म में भोगने पड़ते हैं। कुछ कर्म ऐसे तीव्र फलदायी होते हैं जो इसी जन्म में फल दे देते हैं। वे तीव्र कर्म चाहे पुण्यात्मक हों या पापात्मक ऐसे तीव्र फलदायी कर्म इसी जन्म में फल दे जाते हैं। इसे ही दृष्टजन्म वेदनीय कर्म कहते हैं। कुछ पुण्य कर्म ऐसे है जिनका फल इसी जीवन में मिल जाता है। **'तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्र तप समाधिभिर्निर्वतित: ईश्वर महर्षि महानुभावानाम् आराधनाद्वा सद्य: परिपच्यते पुण्य कर्माशय:'**

अर्थात् तीव्र संवेग (अत्यन्त उत्साह) से किया गया मन्त्रजप, तप एवं समाधि के अभ्यास का फल इसी जन्म में मिल जाया करता है। इसी प्रकार से ईश्वराधना, महर्षि एवं सिद्ध गुरुओं की आराधना का फल भी इसी जन्म में लिया जाता है। इस प्रकार के पुण्य कर्माशय का विपाक इसी जीवन में मिल जाता है।

कुछ ऐसे कठोर पाप कर्म है जिनका फल भी इसी जीवन में मिल जाया करता है। तपस्वियों एवं ऋषियों के प्रति किया गया बार-बार अपकार, विश्वास में आये हुये प्राणी से विश्वासघात तथा गुरुजनों के अनादर का फल इसी जन्म में मिल जाता है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिल पाता उसे अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म कहते हैं। मनुष्य से इतर जो नारकीय प्राणी है उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्म नहीं बनता अर्थात् उनमें बुद्धि की कमी होने के कारण उनके शरीरों से होने वाले कर्मों का कोई फल नहीं मिलता जिनके क्लेश क्षीण हो गये है। अर्थात् जो समाधिवान हैं उनका अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म नहीं बनता। क्योंकि उनके कर्म पाप-पुण्य से रहित होते हैं।

प्रश्न उठता है कर्म किसको कहते हैं इसका उत्तर योगदर्शन में व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में दिया है। **'कुशलाकुशलानि कर्माणि'** अर्थात् अच्छे और बुरे भाव से की गई क्रियाओं को कर्म कहते हैं। इसी भाव से धर्म और अधर्म बनता है। इस प्रकार से निर्णय यह मिला कि हमारे शरीर और इन्द्रियों से होने वाली हर हरकत कर्म नहीं कहलाती है। अच्छे या बुरे भाव रखकर जो हरकत की जायेगी वही कर्म बनेगा और उसी का फल भी मिलेगा कर्म फल भोग लेने के पश्चात् फिर वह संस्कार के रूप में रह जाते हैं। पुन: वृत्ति के रूप में उदित होकर कर्म के रूप में बदल जाया करते हैं। इस प्रकार से संस्कार वृत्ति और कर्म का चक्र चलता रहता है इससे छूटना बहुत कठिन हो जाता है। देखो ! एक संस्कार

दूसरे संस्कार को जन्म देता है। अमृतसर में मेरा एक मित्र था। वह श्री प्रभु जी के चरणों में श्रद्धा रखता था। एक दिन मैंने श्री प्रभु जी से प्रार्थना करते हुये पूछा— प्रभु जी मेरा एक मित्र है आप के चरणों में अनुराग रखता है वह आप के दर्शन करना चाहता है यदि आप की आज्ञा हो तो मैं उसे आप के पास लाऊँ। प्रभु जी ने कहा— नहीं! उसे हमारे पास न ही लाना। श्री मुल्खराज जी भी पास में बैठे हुये थे। उन्होंने प्रभु जी से पूछा— प्रभुजी ! आप उसे लाने की आज्ञा क्यों नहीं देते ?

श्री प्रभु जी ने कहा—राजे ! तुम्हें नहीं पता, संस्कार संस्कार का जनक होता है उस का मेरे पास लाना ठीक नहीं है। फिर प्रभुजी ने मुझ से कहा उसे मेरे पास मत लाना। दूसरे दिन मैं अपने किसी दूसरे मित्र को साथ लेकर प्रभु जी के पास आया। मैंने प्रभु जी को प्रणाम किया। उसने भी मेरी तरह प्रणाम किया। उस लड़के को प्रणाम करते समय श्री प्रभु जी ने उससे कहा अच्छा बेटा ! तुम आ गये हो। चन्द्र मोहन तुम इसे ले आये हो। किन्तु जब श्री प्रभुजी ने उसके चेहरे को गौर से देखा तो कहने लगे—यह लड़का तो वह नहीं है। मैंने कहा—हाँ प्रभु जी। यह वह लड़का नहीं है उसके लिये तो आपने मुझ से मना किया। मेरे कहने का अभिप्राय यह कि श्री प्रभु जी उस लड़के की आकृति को जानते थे। इसलिये इस लड़के को देखकर कह दिया यह तो वह नहीं है। हमने तो समझा कि शायद वही लड़का तो नहीं आ गया। उसके बाद कुछ दिन बाद वह लड़का वहाँ से चला गया। फिर वह न मुझे कभी मिला न ही प्रभु जी के चरणारविन्द में आया। प्रभु जी ने यह दिखा दिया कि उसका इतना गहरा संस्कार था। मेरे कहने का मतलब यह कि संस्कार जो पैदा होते हैं वे हमारे एक दूसरे के आकर्षण से पैदा होते हैं। मैं तुम्हें समझा रहा था कि संस्कार संस्कार का जनक होता है। देखा ! इसे मैं तुम्हें एक घटना से समझाता हूँ। हमारी बड़ी गुरु बहिन श्री द्रोपदी देवी जी अमृतसर में रहती थीं। उन्होंने एक दिन बाजार में श्री मुल्खराज जी महाराज को जाते हुये देखा। उस समय वे शिव रूप दिखाई दे रहे थे तृतीय नेत्र निकला हुआ था तथा उसमें तेज निकलता हुआ द्रोपदी जी ने देखा। वह भी धीरे-धीरे पीछे-पीछे चल पड़ी। यह देखने के लिये कि कौन महात्मा है कहाँ के हैं। धीरे-धीरे वह भी श्री प्रभु जी के चरणों में पहुँची। प्रभु जी के चरणों में आकर उसने एक भजन गाया। उस भजन को सुनकर श्री मुल्खराज जी प्रसन्न हो गये और कहने लगे ! हे प्रभो ! इसको आप चूड़ाला की सम्पत्ति दे दें।

चूड़ाला एक रानी थी बाद में सिद्धि शक्ति वाली योगिनी बन गई थी। उसी चूड़ाला की तरह इन्हें बना दें। उस वचन को सुनकर श्री प्रभु जी विचार करने लगे, इसने यह क्या कह दिया। इसके साथ हमारा इतना संस्कार तो है नहीं। संस्कार तो इतना ही था कि यह एक भजन गाती और चली जाती। किन्तु इसने तो इतना बड़ा संस्कार बना दिया कि यह तो सारा जीवन निपटेगा भी नहीं। प्रभु जी विचार करने लगे क्या इसको चूड़ाला की भांति

बनावें या न बनावें। इतने में हमारे दादा गुरु महाप्रभु सदाशिव आकाश में आये और कहने लगे—देखते नहीं, किस अवस्था में यह बात कही गयी है। प्रभु जी ने कहा—हाँ प्रभो ! इसने तुरीयावस्था में कही है। दादा गुरु ने कहा—तुरीयावस्था का वचन मिथ्या नहीं होता बनाओ इसको चटपट चूड़ाला। प्रभु जी ने उसी समय गहरा शक्तिपात कर दिया और द्रोपदी जी ऊँची स्थिति को पा गई। वह जब भगवान कृष्ण को भोग लगाती थी तो भगवान प्रकट होकर भोग लगाते थे। उसने अपनी यह बात औरों से भी कह दी इस पर सब लोग इसे प्रत्यक्ष दिखाने का आग्रह करने लगे। बात पहुँचते—पहुँचते भी प्रभु जी तक पहुँच गई। प्रभु जी ने कहा द्रोपदी तुमने सबको बताकर बहुत गलती की है। अब तू सबके सामने भोग लगा कर प्रत्यक्ष खाते हुये सब को दिखा। उसने सबके सामने भोग लगाकर भोग लगाया। उस दिन रोटी का ग्रास नहीं उठा। द्रोपदी जी ने कहा प्रभु जी ! आज तो ग्रास नहीं उठा। प्रभु जी ने कहा तुमने सब में प्रचार कर दिया है न। इसलिये ऐसा हुआ है। अब तू और दृढ़ मन से प्रार्थना कर। बहिन द्रोपदी जी ने एक भजन बनाया। बैकुण्ठवासी हे प्रभु जी। आ जा, भोग लगा जा मैं लिये हूँ थाल में भोजन भोग लगा जा आ जा। इस प्रकार भजन गाकर जब ध्यानस्थ हुई तो उसी समय भगवान कृष्ण ने भोग लगाया और सबने देखा कि रोटी का ग्रास टूट कर आकाश में लय हो रहा है। किन्तु द्रोपदी जी देख रही थी कि भगवान कृष्ण भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार से टूट—टूट कर दो रोटी समाप्त हो गई। इतनी बातें सुनाने का मेरा अभिप्राय यह है कि संस्कार संस्कार को जन्म देता है। श्री प्रभु जी ने कहा—इसका संस्कार हमारे साथ इतना ही था कि एक भजन बोलती और चली जाती किन्तु इस ने (सुखराज जी) यह कह कर कि चूड़ाला की सम्पत्ति दे दो इस संस्कार को बहुत लम्बा कर दिया। महाप्रभु जी के कहने पर प्रभु जी ने उसे चूड़ाला की सम्पत्ति दे दी। उस पर तीव्र शक्तिपात कर उसकी बहुत ऊँची स्थिति बना दी। मैं जिस बात को कहना चाह रहा था वह यह कि—

ईशावस्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

अर्थात् इस संसार में कण—कण में परमात्मा का वास है। अतः त्याग भाव से वस्तुओं को भोग करो। जो आया है तो अवश्य चला जायेगा। ममता और आसक्ति के भाव को त्याग कर संसार में रहो। तुम सब उठते—बैठते, चलते—फिरते, सोते—जागते हर समय अपने गुरु मंत्र का जाप करते रहो। यदि ऐसा करोगे तो तुम्हारे अन्दर तेज समा जायेगा उस तेज के आने के बाद किसी के प्रति आसक्ति और मोह नहीं रहेगा। इसलिये अन्तर्ज्योति को प्राप्त करो ताकि संस्कार चक्र टूट जाये और श्री प्रभु जी के चरण कमल अखण्ड रूप से मिल जायें। बस ! बार—बार सभी को आशीर्वाद।

***

ध्यान–योग एवं चित्त वृत्ति निरोध

योग शब्द आज के युग में अधिकाधिक जन मानस में अपनी पहचान को विस्तृत बना रहा है। शास्त्रों में योग की अनेक प्रकार से परिभाषायें दी गई हैं। ये परिभाषायें प्रसंग स्थिति के अनुसार की गई हैं। आध्यात्म जगत में योग शब्द का तात्विक अर्थ है—आत्मा का प्रकृति के संयोग एवं प्रभाव से रहित होकर अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाना। इस दृष्टिकोण से देखा जाये तो जितनी भी योग की आध्यात्म परक परिभाषायें हैं वे सब आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा की ओर लक्ष्य करके परिभाषित हुई हैं। वस्तुत: योग शब्द उस छोटे से बीज के समान है जिसमें 'अध्यात्म' रूपी महावटवृक्ष समाया हुआ है। योग दर्शन में महर्षि पतंजलि भगवान ने **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'** अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है' ऐसा कहकर योग की परिभाषा की है। योग शब्द के व्यापक व गहन अर्थ से अपरिचित योग का अत्यल्प ज्ञान रखने वाले उपदेशक कथावाचक आदि भी सहज रूप में योग के व्याख्या प्रसंग में इस परिभाषा को दोहराते बहुधा देखे जाते हैं। **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'** इस परिभाषा का यदि विश्लेषण करें तो इसमें चित्त, चित्त की वृत्तियाँ, वृत्तियों का निरोध एवं योग ये चार तत्व हम पाते हैं। सम्पूर्ण योग दर्शन इन्हीं चार तत्वों की सम्पूर्ण व्याख्या है। योग तत्व की प्राप्ति में मूलाधार के रूप में जो वस्तु है, वह है **ध्यान योग**। ध्यान योग से ही योग का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। ध्यान योग से ही विश्व के सम्पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद में एक प्रसंग आया है—उसके अनुसार एकबार सारे ऋषि—मनीषी एकत्रित होकर इस जगत के विषय में इस प्रकार विचार करने लगे कि क्या इस सृष्टि का कारण **'काल'** है या **'स्वभाव'** इसका कारण है—अथवा **नियति** कारण है या **यदृच्छा** इसका कारण है अथवा **स्थूल भूत** ही इसके कारण हैं ? अथवा **जीवात्मा** इसका कारण है ? इस प्रकार से नाना प्रकार के विचार उनके मस्तिष्क में आने लगे। विचार करने पर निष्कर्ष के रूप में एक विचार बना कि इनमें से ये सब अलग—अलग रूप से अथवा इन सब का संयोग भी जगत का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि वे जड़ पदार्थ और जीवात्मा स्वयं सुख—दु:ख रूप क्लेश मे पड़े होने के कारण इन सबका संयोग कराने में समर्थ नहीं है। विचार मन्थन से भी कुछ निर्णय न निकलने पर उन्होंने वृत्ति निरोध कर ध्यान योग में स्थित होकर जगत के कारण को जाना—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक:॥

अर्थात् उन्होंने ध्यान योग में संयुक्त होकर उन परमात्मा को जो कार्यों के अन्दर छिपी हुई शक्ति है—प्रत्यक्ष देखा। वे परमात्म देव अकेला काल और जीवात्मा समेत इन सारे कारणों का अधिष्ठाता है। इस प्रकार से जहाँ ध्यान योग की महिमा शास्त्रों में गाई गई है वहाँ योगियों एवं सन्तों ने भी इसी पथ का अनुसरण कर ऋषित्व को प्राप्त किया है और इसके अलौकिक लाभ को जगत को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। **'योगश्चित्त वृत्ति निरोध:'** के रूप में योग की जो परिभाषा की गई है वह जीवात्मा के व्यक्तित्व शुद्धि एवं मुक्ति परक है। जिसे प्राप्त कर जीव अज्ञान रूपी मल से छूटकर अपने शुद्ध निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठा पाता है। योग का इससे भी सर्वोच्च स्वरूप है। जिसे

भगवान ने गीता में आत्मयोग, आत्ममाया, योगमाया आदि शब्दों से गीता में व्यवहृत किया है। इसी शक्ति से ईश्वर '**सृजत्यवत्यत्ति**' अर्थात् सृष्टि का सृजन करते हैं, पालन करते हैं और संहार की लीला करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की इस योग माया से संचालित होती चली आ रही है। इसी से ईश्वर अपने काल–चक्र, युग–चक्र एवं जग–चक्र चला रहे हैं।

योग साधना का लक्ष्य है चित्त का शोधन एवं वृत्तियों का निरोध–रोकथाम। मन, बुद्धि एवं अहंकार के समवेत रूप को चित्त कहते हैं। यह चित्त त्रिगुणात्मक है। स्वभावतः निर्मल होने से इसे **चित्त सत्व** कहा जाता है। चित्त की वृत्तियाँ ही चित्त को अभिव्यक्त करती हैं। नाना प्रकार की कामनायें, वासनायें एवं प्राणों के गमनागमन से यह वृत्तियाँ फलती–फूलती रहती हैं और अपने जैसी अन्यान्य वृत्तियों को उत्पन्न करती रहती हैं। जिस प्रकार से लतायें जल व सूर्य–किरण पाकर विकसित पल्लवित रहती हैं और इनके अभाव में नष्ट हो जाती हैं इसी तरह से वृत्तियों की भी बात है। इसलिये योगियों का सिद्धान्त है कि प्राण स्पन्दन और वासना के प्रवाह को अवरुद्ध किया जाये तो वृत्तियाँ भी क्षीण हो जाती हैं और क्रमिक अभ्यास से वृत्तियाँ निर्मूल होकर क्षय हो जाती हैं। महर्षि पतंजलि जी ने हमारे चित्त भूमि से उठने वाली असंख्य वृत्तियों को पांच भागों में बाँटा है, जो प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा और स्मृति के रूप में हैं अर्थात् चित्त की वृत्तियों के ये पाँच ही प्रकार हैं जिनका निरोध करना योग का लक्ष्य है। इन पाँच प्रकार की वृत्तियों के पुनः दो–दो और भी प्रकार हैं जिसे क्लिष्ट वृत्ति और अक्लिष्ट वृत्ति के रूप में योग शास्त्र में अभिहित किया जाता है। इस प्रकार से प्रमाण विपर्यय आदि भी दो रूप में बँट जाते हैं। जो विवेक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बन जाती हैं। उन्हें हम **अक्लिष्ट वृत्ति** की संज्ञा देते हैं और जो विवेकज्ञान का अवरोधक हो उसे **क्लिष्ट वृत्ति** कहते हैं।

यहाँ पर कई लोगों के मन में यह आशंका उठ सकती है कि 'विपर्यय वृत्ति' अक्लिष्ट अर्थात् सुखकारी कैसे हो सकती है। विपर्यय को अविद्या, तम, मिथ्याज्ञान, भ्रम आदि का पर्याय माना जाता है। वेदान्त शास्त्र में '**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या**' का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह सारा जगत मिथ्या है केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस प्रकार जगत को मिथ्या मान लेने पर इस जगत के ही अन्तर्गत आने वाले वेदशास्त्र योगाभ्यास एवं समस्त पारमार्थिक पुरुषार्थ एवं समस्त सांसारिक व्यवहार व्यर्थ व दूषित हो जायेंगे। इसलिये जब तक अज्ञान बन्धन में हैं तब तक जगत मिथ्या होने पर भी मिथ्या नहीं कह सकते। उपनिषदों में उल्लेख है– '**अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्यया अमृत मश्नुते।**' अविद्या के द्वारा मृत्यु सागर को पारकर विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर विपर्यय रूप अविद्या का अवलम्ब लेकर संसार सागर से पार जाने की बात कही गई है। इसलिये '**विपर्यय वृत्ति**' का शोधन करते हुये जब हम वृत्ति को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं तो वही विवेक ज्ञान में सहायक बनकर अक्लिष्ट रूप बन जाती हैं। चित्त वृत्तियाँ चाहें क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट दोनों ही हेय होती हैं। योगी को पुण्यापुण्य के दायरे से आगे जाना होता है। इसीलिये योगदर्शन में आया है '**आकृष्णाशुक्ल योगिनाम् त्रिविधामितरेषाम्**' अर्थात् योगियों के कर्म न तो पाप के होते हैं और न ही पुण्य है। सांसारिक व्यक्तियों के तीन प्रकार के– (१) पाप के (२) पुण्य के तथा (३) मिश्रित कर्म होते हैं। चित्त की वृत्तियों का निरोध जिस प्रक्रिया से किया जाता है उस प्रक्रिया का नाम ही **ध्यान योग** है।

ध्यान योग मनुष्य को सर्वांगीण विकास के पथ पर ले जाता है। इससे ही मनुष्य पशुत्व से नरत्व तथा फिर

नारायणत्व को पा सकता है। गीता में स्थल–स्थल पर भगवान ने अपने मुखारविन्द से बतलाया है कि मेरा भक्त ध्यान योग की साधना से युक्त होकर मेरे स्वरूप को पा जाता है। श्रुतियों तथा गीतादि ग्रन्थों में भी **'अमृतमश्नुते'** की बात मिलती है। वस्तुत: यह 'अमृत' कोई भौतिक दृश्यमान वस्तु नहीं है जिससे मनुष्य अमृतत्व को पा सके। यदि सोमलता आदि को अमृत मान भी ले तो भी यह कल्पान्त देह धारण की स्थिति दे सकते हैं, किन्तु **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकम् विशन्ति** अथवा **'आब्रह्म भुवनांलोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** के अनुसार ऐसे दिव्य देह धारियों का भी पुनरावर्तन होकर मनुष्य आदि शरीर को ग्रहण करने की बात का स्पष्ट संकेत शास्त्रों में मिलता है। पुण्यापुण्य के दायरे से आगे निकलने का एकमात्र साधन ध्यान योग है। वेदान्त में देहाध्यास को अविद्या का स्थूल रूप माना जाता है। हमारी चित्त वृत्ति जितनी स्थूल वस्तु में रहेगी चित्त की ज्ञान ग्रहण की शक्ति उतनी ही क्षीण रहेगी। स्थूल वस्तुओं की संरचना तमोगुण की प्रधानता से होती है। इसलिये स्थूल वस्तु में वृत्तिबन्धन का अर्थ है अज्ञान के दायरे में ही भटकना जड़वत स्थिति श्रुति में पंचकोश की साधना बताई गई है—अन्नमय प्राणमय, मनोमय–विज्ञानमय व आनन्दमय क्रमश: पांच कोषों का आवरण आत्मा के बाहर है।

योग साधक को इन पांच कोशों से क्रमश: अपनी वृत्ति भीतर की ओर ले जाकर अन्तत: आत्मा में प्रतिष्ठित करना होता है। आनन्दकोष में कारण शरीर गत जड़ चेतन की ग्रन्थि का विभेदन कर योगी विवेकख्याति को प्राप्त कर जन्म–मृत्यु के पाश से सर्वथा के लिये छूट जाता है। इस प्रकार से ध्यान का लक्ष्य है साधक को अपने मौलिक स्वरूप में लाकर प्रतिष्ठित करना। इस प्रकार से ध्यान प्रक्रिया साकार से निराकार–स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम में पहुँचने की विद्या है। जिस प्रकार से धनुर्विद्या का अभ्यासी पहले स्थूल लक्ष्य सामने रखकर अभ्यास करता है। फिर धीरे–धीरे लक्ष्य छोटा बनाता जाता है। अन्त में सूक्ष्म बिन्दु को भी वेध लेता है। यही प्रक्रिया ध्यान योग की है। ध्यान का लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु क्या रखा जाये ? साधक के लिये इसका निर्धारण गुरुदेव करते हैं। इसीलिये 'योग मार्ग में गुरु की आवश्यकता पड़ती है। कभी–कभी पूर्वजन्म के गुरुमुख प्रबल अभ्यासी का ध्यान जन्म से ही लगने लगता है उन्हें स्थूल गुरु की विशेष आवश्यकता नहीं भी पड़ सकती है।

हमारे देश मे प्राचीन काल से ही ध्यानयोग की अनेक विद्यायें प्रचलित हैं। चाहे बौद्धों की विपश्यता पद्धति हो अथवा जैनियों का प्रेक्षा ध्यान या और किसी की अन्य पद्धति। सब का लक्ष्य है धारणा ध्यान के द्वारा योगी अपनी चेतना के मूल स्रोत को पा ले।

ध्यान का सही परिणाम प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि साधक कम से कम दो से तीन घण्टे तक अभ्यास में बैठें। आज कल के कई योग प्रचारक साधकों को दस–पन्द्रह मिनट का ध्यान ही पर्याप्त बतलाया करते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। हमारे पूज्यपाद सद्गुरुदेव भगवान अपने साधक बच्चों को प्रात: ब्रह्ममुहूर्त में तीन घण्टे अभ्यास करने की आज्ञा दिया करते थे। वस्तुत: ध्यान का तात्पर्य है वृत्तियों से सम्बन्ध तोड़कर शून्य में पहुँच जाना। इसके लिये एक क्रम है और उसी क्रम से जाने पर सफलता मिला करती है। सर्व प्रथम साधक को शरीर स्थिर करना होता है तत्पश्चात् प्राणों का गमनागमन सूक्ष्म बनाना होता है तभी मन शून्यता की अवस्था में जाने योग्य बन पाता है।

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि ध्यान योग की महिमा को समझे और अपने आप को इस दिव्य मार्ग में ले जाने का प्रयत्न करें, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सब प्रकार से कृतकार्य हो जाता है। फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रहता।

***

सद्गुरु साधना के चार अंग

प्रोफेसर आचार्य **चन्द्रहास शर्मा**, दिल्ली

गुरुमूर्तिम् स्मरेन्नित्यं, गुरुनाम सदा जपेत्।
गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत, गुरोरन्यन्न भावयेत् ।। (गुरुगीता १८)

सिद्धयोग का मार्ग बच्चों का कोई खेल नहीं है। जिनका चित्त अत्यन्त परिपक्व है, किसी के बहकाने पर गुरुभक्ति का परित्याग नहीं करते। जिनकी सद्गुरु चरणों में अविचल भक्ति है। जो जाति, धर्म, ऐश्वर्य और यश–कीर्ति के सारे सहारों का परित्याग कर एकनिष्ठ गुरुभक्ति के दीवाने होते है, उन्हीं के लिए यह गुरुमार्ग या सिद्धयोग का राजमार्ग है। यदि साधक एकनिष्ठ और एकचित्त होकर गुरुभक्तियुक्त बन जाय तो **'सिद्धस्य कृपया योगी भवति, नान्यथा'** अर्थात् सिद्ध सद्गुरुसत्ता की कृपा पाकर योगी बनने में कोई सन्देह नही है। योगसाधना सफलता पाने का इसके अतिरिक्त और कोई सरलमार्ग नहीं है। जिसके चित्त के मल शुद्ध हो चुके हैं, उसके अन्दर यह परमभाव दृढ़ता से बैठ जाता है कि श्री सद्गुरुदेव ही मेरी गति, मति और भक्ति के आलम्बन हैं। उनके अतिरिक्त ब्रह्म या परमात्मा अन्य कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार के भाव को दृढ़ करने के लिए जो साधना करनी चाहिये, उसे ही ऊपर लिखे हुए गुरुगीता के श्लोक में भगवान सदा शिव जगज्जननी पार्वती को उपदेश करते हैं। इस साधना के चार अंग बताये गये है–श्री गुरुमूर्ति का स्मरण, नामजप, गुरु आज्ञा का पालन तथा गुरु में अनन्यता का भाव अर्थात् अन्य किसी आश्रय की इच्छा छोड़कर सर्वात्मभाव से उनके हृदय में प्रविष्ट हो जाना और उन्हें अपने हृदय कमल में प्रतिष्ठित कर लेना।

जब तक साधक (शिष्य) श्री गुरुदेव के समक्ष हाजिर नाजिर, रूबरू या अभिमुख नहीं होता तब तक अविद्या रूपी क्लेश, कर्म संस्कारों के मल पंच कोशात्मक आवरण तथा अज्ञानान्धकार का निवारण नहीं होता। अतः सर्वप्रथम साधक गुरुदेव की मूर्ति का प्रतिक्षण स्मरण करने का अभ्यास करें। स्मरण और ध्यान प्रकारान्तर से एक ही प्रक्रिया है। मूर्ति के ध्यान की क्रिया ठीक–ठीक समझनी होगी। मूर्ति माने क्या ? क्या पत्थर की हाथ, आँख नाक–मुख आदि अवयव संस्थानों की आकृति विशेष ? नहीं। क्या कागज या फलक पर रंग और रेखाओं से रचित आकृति विशेष ? नहीं। !! फिर क्या ? उत्तर है–श्री गुरुमूर्ति सच्चिदानन्द परमपुरुष पुरुषोत्तम का भाव–शरीर है। यह हाड़मांस का शरीर नहीं है। चितिशक्तियुक्त, ज्ञान शक्ति युक्त, इच्छा शक्ति युक्त तथा क्रियाशक्ति युक्त तेज पुंज चिन्मय मूर्ति श्री गुरुमूर्ति होती है। उनकी मूर्ति विश्व की समस्त आकृतियों और रूपों का उपादान कारण है। समस्त विश्व उनका नमन कर रहा है, स्तवन कर रहा है। सभी के वे इष्ट हैं। उनके रोमकूपों में अनन्त ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। गीता में विश्वरूप दर्शन के प्रसंग में अर्जुन ने जिस विश्वमूर्ति के दर्शन किये थे वही है गुरुमूर्ति। काकभुसुण्डि जी ने भगवान के मुख से अन्दर प्रविष्ट होकर जिस स्वरूप के दर्शन किये थे, वह है गुरुमूर्ति 'रोम–रोम प्रति लागे, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड।' श्री सद्गुरु में इष्ट देवता की इसी प्रकार भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार चित्रकार तूलिका, रंग और कल्पना का सहारा लेकर एक आकृति का निर्माण करता है वैसे ही साधक अपनी शुद्ध सतोगुणी भावना द्वारा अपने सद्गुरु की मूर्ति तैयार करता है। फिर उसे बार–बार देखता है। साष्टांग प्रणाम करता है। गुरु मूर्ति की नजर से नजर मिलाता है। दृष्टि के मिलते ही भावानुप्रवेश क्रिया घटित होती है। दृष्टि मिलते

ही इष्ट की मुखाकृति स्मितहास (मुस्कान) के प्रकाश से सुशोभित हो उठती है। नजर से नजर मिलते ही प्रसन्नता का स्रोत फूट पड़ता है। कर्म संस्कार प्रवाह ठहर जाता है। उनके शरीर में दिव्यता, प्रकाश, चैतनता और तरलता प्रतीत होने लगती है। उनकी **'व्याप्तं येन चराचर'** तथा अखण्डमण्डलाकार सत्ता समस्त विश्व को अपनी मूर्ति में समेटे प्रतीत होती है। पाताल से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त, मायाराज्य से माया के अतीत शुद्ध सत्व पर्यन्त सभी इष्ट गुरुमूर्ति के पैर के अंगूठे से शिखा पर्यन्त समाया लगता है। गुरुमूर्ति विशुद्ध सत्व प्रकाशयुक्त **'चिदानन्दमय देह तुम्हारी'** की उक्ति का अनुवर्तन करती है।

जब साधक गुरुदेव की इस प्रकार की मूर्ति को अपने हृदय में प्रकट कर लेता है तो उसे अनुभव होने लगता है कि वह विश्व मूर्ति उसके स्वयं के अन्दर उद्‌भासित हो रहो है। जैसे सिद्धयोग की अनन्य साधिका ब्रज गोपियाँ अपने गोपाल, नन्द नन्दन ब्रज चन्द्र की मूर्ति को हृदय में स्थापित कर प्राण प्रतिष्ठा करती रहती है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में उनके हृदय में श्री कृष्ण मूर्ति क्षणभर को भी अलग नहीं होती। यही है एकाग्रता और अनन्यता की स्थिति। ऐसी स्थिति होने पर साधक और इष्ट की परस्पर बातचीत शुरू हो जाती है। नाम जप स्वतः होने लगता है। **'कथाजपः शिवसूत्र'** के अनुसार अपने इष्ट सद्‌गुरु की कथा के सिवाय हृदय में कोई और भाव आता ही नहीं। यही नाम जप की स्थिति है। जब चित्त में सद्‌गुरुमूर्ति के अतिरिक्त अन्य ध्येय वस्तु नहीं आती, पूर्व एकाग्रता हो जाती है। समस्त वस्तु शून्य स्थिति होने पर हृदयाकाश में ध्येय से भिन्न किसी अन्य की उपस्थिति नहीं होती। यहाँ शून्य कुम्भक स्थिति स्वतः हो जाती है। हृदयाकाश में स्वच्छ प्रकाश आलोकित होने लगता है। उस अवस्था में साधक को आराध्य को अपने हृदय के सिंहासन पर आसीन कर पंचोपचार पूजा अर्थात् पंच तत्वों को समर्पित कर गन्ध (पृथ्वीतत्व) पुष्प (आकाश तत्व) धूप (वायुतत्व) दीप (अग्नि तत्व) नैवेद्य (जल तत्व) का स्थूल स्वरूप के बाह्य प्रतीकों का निवेदन करना चाहिये।

यह बाह्य पूजन भी आवश्यक है और उससे अधिक आवश्यक है—मानस पूजन। इस प्रकार तत्वात्मक पंचोपचार पूजन से भूतशुद्धि होती है। भूतशुद्धि से अपने भाव शरीर में साधक स्वयं में श्री गुरु की कृपा शक्ति के अवतरण का अनुभव करने लगता है। वह अनुभव करता है कि सद्‌गुरुदेव ही उसके वास्तविक जन्मदाता पिता हैं, वे ही अनन्त ममता मयविग्रह रूप धारी वास्तविक माँ है। वे ही उसके अपने आत्मीय बन्धु है, मित्र हैं, सखा है— सब कुछ वे ही है। उनसे साधक की सत्ता अभिन्न है। जैसे सूर्य से धूप का अलग अस्तित्व नहीं, चांदनी का चन्द्र से अलग अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार शिष्य का गुरुदेव से अलग अस्तित्व नहीं। फिर अहंकार किस बात का करें उन्हीं की शक्ति से उसके प्राणों की धड़कन और बुद्धि में चिन्तन एवं विचार की गति है। इस प्रकार के परिकर्म से साधक के अन्दर विद्यमान अविद्याजन्य मैं और मेरे पने का भाव इष्टार्पित हो जाता है। पंचतत्वात्मक शरीर में ही अहंकार और ममता भाव का विकास हुआ करता है। जब पंचोपचार पूजन से साधक का अहंकार और ममत्व सब कुछ इष्ट के चरणों में समर्पित हो जाता है तो इष्ट में और साधक में दोनों ओर एक नित्य अविनाशी चेतन सत्ता का प्रकाश आनन्द रूप में प्रतीत होने लगता है। श्री सद्‌गुरु के आशीर्वाद से साधक अपने स्थूल शरीर में सूक्ष्म भावों का अनुभव करने लगता है। उसका भाव शरीर नाना प्रकार की क्रीड़ायें करता है। कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी नाचता है, कभी शून्यकार वृत्ति में मन और शरीर हो जाता है। इन शक्तिपात क्रियाओं से देह और चित्त की उत्तरोत्तर शुद्धि और उत्कर्ष होता चला जाता है। बुद्धि में अज्ञान्यजन्य आवरण हटने लगता है। बुद्धि शुद्ध,

निश्चयात्मक, निर्भ्रान्ति और आत्मज्ञानाभिमुखी होती चलती है। यदि नियम से दीक्षा सम्बन्ध बन जाय तो गुरुकृपा मार्ग की उपासना स्वतः विकसित होने में कोई संदेह नहीं। दीक्षा कार्य कोई चेला—चेली बनाने का धन्धा नहीं है यह जीव की सर्व प्रकार की विशुद्धि का गहन विज्ञान है। इसीलिए दीक्षा देने का हर व्यक्ति गुरु बनकर अधिकारी नहीं और न हर जिज्ञासु बिना अपनी पात्रता तैयार किये दीक्षा का अधिकारी है। कई वर्ष परीक्षा कर समर्थगुरु जब दीक्षा कर्म सम्पन्न करता है, तो शक्ति का उत्थान अवश्य होगा। समर्थ गुरु का होना इसलिए आवश्यक है कि वह शक्ति के अनुग्रह और निग्रह करने के समर्थ होना चाहिये जैसे कुशल ड्राइवर गाड़ी की रफ्तार को आवश्यकतानुसार फेर बदल कर उसे गन्तव्य तक पहुँचा सकता है। कोई बालक कौतूहल वश खेल समझकर यदि गाड़ी को स्टार्ट कर दे, उसको नियंत्रित करना और दौड़ाना तथा ठीक—ठीक दिशा में ले चलना न आता हो तो क्या हाल होगा ? सहज ही कल्पना की जा सकती है।

'वीतराग विषयं वा चित्तम्' इस पातंजल योगदर्शन के नियमानुसार परवैराग्य सम्पन्न सद्गुरुदेव के चित्त के साथ चित्त और मन के साथ मन की एक भावापन्न स्थिति हो जाने पर साधक में साधना करने की सामर्थ्य और शक्ति आती है। योगमार्ग के अनुभवी महापुरुषों का मत है कि शिष्य और गुरु के परस्पर भावानुवेश होने पर साधक भावराज्य में विष्ट होने की योग्यता प्राप्त करता है। भाव राज्य की अन्तिम परिणति महाभाव और भावातीत समाधि में होती है। उससे पूर्व साधक की तीन अवस्थायें हुआ करती हैं। प्रथम अवस्था भक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में साधक स्वयं को तुच्छ और इष्ट को महान रूप में अनुभव करता है। **'तुम को कैसे मिलपाऊँ' मैं नादान, अज्ञानी, असहाय, प्रभु कृपा करना'** इस प्रकार का भाव उस समय साधक में रहता है। अपने इष्ट को पिता, माता गुरु और प्रभु रूप में स्मरण करता है। द्वितीयावस्था में साधक का अहं इष्ट की कृपा का बल पाकर इष्टाकार होकर इष्ट के साथ समसत्तात्मक अपने को अनुभव करता है। अब वह छोटा नहीं और न इष्ट बड़ा है। दोनों की दूरी समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में सख्य और प्रीति का भाव विकसित होता है। इस अवस्था में इष्ट और साधक श्री कृष्ण और श्री दामा की भांति एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। दोनों का मिलन होता है। साधक को बार—बार भस्त्रिका प्राणायाम होकर प्राणों की ऊर्ध्वगति होती अनुभव में आती है। अन्दर करुणा और वात्सल्य भाव का अनुभव होता है। गुरुदेव की करुण कृपा दृष्टि साधक के हृदय में भावों के ज्वार भाटे पैदा कर अन्त में परम शान्ति देती अनुभव में आती है। साधक में स्वयं मातृपितृ भाव अनुभूत होने लगता है। मातृभाव में समस्त शक्ति मातृगर्भ में सन्निहित रहती है। इस स्थिति में कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार पथ की ओर गमन होने लगता है। शिव सायुज्य की लिए महामाया कुण्डलिनी बार—बार चेष्टा करती है। इस अवस्था में नाना भावों तथा दशाओं का उदयास्त होता रहता है। इसके बाद भावराज्य की परिसमाप्ति होते ही शिवशक्ति का समागम होते ही महाभाव की अवस्था आती है। इसके पश्चात् भावातीत त्रिगुण रहित शुद्ध चैतन्य की स्वरूप प्रतिष्ठा अवस्था आती है जिसे सिद्धावस्था, कैवल्य या निर्जीव समाधि के नाम से कहा गया है। गुरुमूर्ति का ध्यान मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त साकार रूप में, उसके आगे निराकार शक्ति रूप में करना होता है। आज्ञाचक्र के ऊपर गुरु पद्म से आगे निरोधावस्था है। एकाग्रावस्था तक बाह्य पूजा चला करती है। उसके आगे मंत्ररूप से गुरुदेव का दिया हुआ परम सत्ता का नाम स्फुरित होता है। साधक नामजप द्वारा चित्त की भूमि पर **'चित्तं मंत्रः'** के नियमानुसार मंत्र और मन में एकत्व स्थापित कर इष्ट देवता के साथ अभिन्न हो जाता है। गुरुदेव निराकार होकर मंत्ररूप बन जाता है। गुरू ही आज्ञारूप (शक्ति का प्रसार) बन जाते हैं। उनसे अनन्यता होना ही जीवन की सार्थकता है।

***

उठो ! जागो ! आगे बढ़ो !!

श्रीमती सरिता भारद्वाज, सांख्ययोग आचार्य, दिल्ली

संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। अधिकांश तो भाग्यवादी होते हैं और कुछ लोग पुरुषार्थ में भरोसा रखने वाले हुआ करते हैं। जो आलसी किस्म के होते हैं वे 'दैव—दैव आलसी पुकारा' की कहावत के अनुसार हमारे भाग्य में होगा तो सफलता मिलेगी नहीं तो नहीं यह कह कर—

'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम ।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम।।'

की दुहाई देकर निद्यमी होकर आलस्य में पड़े रहते हैं ऐसे लोग कहा करते हैं कि संस्कार होगा तो हमें ध्यान योग में सफलता मिलेगी, अमुक कार्य सिद्ध होगा आदि—आदि कह कर तमोगुणी आलस्य की वृत्ति में जीवन को नष्ट कर देते हैं। दूसरे कुछ लोग रजोगुणी और सतोगुणी प्रकृति के हुआ करते हैं। उनका ध्येय लक्ष्मणजी की तरह पुरुषार्थवादी होता है। जब श्रीराम समुद्र के किनारे आसन बिछा कर लंका—विजय के लिए समुद्र की पूजा और प्रार्थना करते हुए मार्ग माँगने लगे और समुद्र टस से मस नहीं हुआ तो लक्ष्मण से न रहा गया और श्री राम से बोले— 'तात ! भाग्य का क्या भरोसा ? उठिये, अपने अग्निबाण का सहारा लेकर समुद्र को सोख कर स्वयं मार्ग बनाइये। लक्ष्मण की बात श्री राम को जँच गयी। अन्ततोगत्वा ऐसा करते ही समुद्र नाना रत्नों का उपहार लेकर श्री राम की आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिए तैयार हो गया। बिना पुरुषार्थ किये हुए भाग्य भी साथ नहीं देता। जो सोता रहता है। उसका भाग्य भी सोता रहता है और जो उठ खड़ा होता है। उसका भाग्य भी खड़ा हो जाता है और जो चल पड़ता है, उसका भाग्य भी सफलता के मार्ग पर दौड़ पड़ता है। वेदों में ऋषि कहते हैं— **'चरन् वै विन्दते मधु:।'** उद्योग शील व्यक्ति मधु अर्थात् आनन्द और सफलता प्राप्त करता है। नीति कारों ने भी यही बात कही है—

'उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै:।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगा:।।'

अर्थात् प्रत्येक कार्य में सफलता उद्योग और पुरुषार्थ करने से मिला करती है। शेख चिल्ली की तरह कोरे ख्वाब देखते रहने से नहीं मिलती। माना कि शेर बहुत पराक्रमी और बलवान होता है; किन्तु यदि वह सोता रहे तो उसके मुख मैं अपने आप भाग्य का संस्कार वश कोई शिकार नहीं चला जायेगा। उसे उदर पूर्ति के लिए पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

महायोगिनी रानी चुड़ाला ने अपने आलसी पति को पुरुषार्थ परायण बना कर योग सिद्ध बना दिया था। उसने अपने स्वामी शिखिध्वज को योग साधना में सफलता प्राप्त करने का उपाय योग वाशिष्ठ में यही बताया है कि मनुष्य को जो कुछ प्राप्त है और जिस भी अवस्था में है वहीं रहते हुए निरन्तर प्रयत्न, पुरुषार्थ और अभ्यास करते रहना चाहिये। एक दिन निश्चित रूप से उसके दृढ़ निश्चय और प्रयत्न के फलस्वरूप उसे आवश्यक सफलता मिलेगी। यदि उसके भाग्य में पूर्व कर्मानुसार उसकी प्राप्ति नहीं है तो भी उसके पुरुषार्थ के फलस्वरूप नया कर्माशय तैयार होकर तीव्र संवेग से किये गये अभ्यास के द्वारा उसका इसी जन्म में परिणाम प्राप्त हो जायेगा ।

कहा भी गया है—**'करत—करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।'** इस सम्बन्ध में ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और संस्कृत के महान वैयाकरण वोपदेव का उदाहरण प्रसिद्ध है। वोपदेव बचपन में जड़ बुद्धि थे। पढ़ने बैठाया गया। अपने साथियों में सबसे अधिक फिसड्डी सिद्ध हुआ। उसके साथी उसकी मजाक उड़ाते, अध्यापक दण्ड देते और माता—पिता दुःखी होकर कभी समझाते तो कभी डांटते लेकिन वोपदेव पर कोई असर नहीं पड़ता। वही ढाक के तीन पात। प्रतिदिन अपना अपमान देख कर वे घर से निकल गये। उन्हें प्यास लगी। एक कुँए पर पनिहारिन पानी भर रही थी। उनसे पानी माँगा। वहाँ उन्होंने कुँए की मुंडेर पर चिकना—चिकने सुडौल आकार के पत्थर में गड्ढा देखा। जिज्ञासावश उन्होंने पनिहारिन से पूछा—इतना सुन्दर गड्ढा किस कारीगर ने तराशा है ? पनिहारिन ने उत्तर दिया—बुद्धू इतना भी नहीं जानते। प्रतिदिन घड़ा रखने से अभ्यास होते—होते यह पत्थर स्वयं घिस गया है और यह गड्ढा बन गया। इस प्रकार के उत्तर को सुनकर वोपदेव विचार करने लगे कि जब कठोर पत्थर में कोमल घड़े और रस्सी से संस्कार बन सकता है तो यदि मैं भी निरन्तर अभ्यास करूँ तो मेरी भी जड़ता दूर हो सकती है। उन्होंने दृढ़ निश्चय के साथ अभ्यास प्रारम्भ कर दिया परिणाम स्वरूप एक दिन वे व्याकरण के इतने ऊँचे विद्वान बन गये कि उनका नाम इतिहास में सदा के लिए अंकित हो गया।

सद्गुरु वशिष्ठ ने श्री राम को योग वाशिष्ठ में एक किसान के उपाख्यान द्वारा यह समझाया है कि मनुष्य को गंगा के प्रवाह की तरह निरन्तर क्रियाशील और उद्योगरत रहना चाहिये। जो लोग छोटी—छोटी चीजों की उपेक्षा कर बड़ी चीज पाने के चक्कर में रहते हैं वे संयोग से भले ही उसे पालें अन्यथा असफल होते हैं। हमेशा याद रखें—

"रहिमन देखि पड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई, कहा करै तलवारि।"

छोटी से छोटी वस्तु की उपेक्षा और अनादर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। धूल जैसी तुच्छ वस्तु भी यदि उड़कर आँख में गिर जाये तो कष्टकर बन जाती है। छोटी चींटी हाथी जैसे विशालकाय जीव को नानी की याद दिला सकती है। वही व्यक्ति महान होता है जो छोटी—छोटी चीजों की कद्र करता है। छोटे—छोटे कार्यों से ही बड़े—बड़े कार्य हुआ करते हैं। अतः छोटे—छोटे कार्यों को भी पूरी सजगता व निष्ठा से करना चाहिये। ऐसा करने से प्रत्येक कार्य को होशपूर्वक, ज्ञान पूर्वक और लगन से करने का स्वभाव बन जाता है। कभी—कभी छोटे कार्यों द्वारा बड़ी—बड़ी सिद्धियाँ हाथ लग जाती है।

एक बार विंध्याचल की घाटी के घने जंगल में होकर एक किसान जा रहा था। वह प्रकृति से मक्खीचूस था। घर से एक कौड़ी लेकर निकला था। रास्ते में उसकी जेब से वह कौड़ी भी कहीं गिर गयी। जब उसे कौड़ी गिरने का बोध हुआ, वह छटपटा कर उसे ढूंढने में लग गया। उसने पूरे रास्ते कौड़ी को इधर से उधर ढूँढा। इस कार्य में उसे बिना खाये—पीये तीन दिन हो गये। अन्य लोगों को जब मालूम हुआ कि तीन दिन से भूखा प्यासा किसान कौड़ी ढूंढने में लगा है तो वे लोग उसकी मूर्खता पर हंसने लगे। जैसे एक पाई की भूल के लिए कोई मुनीम रात भर हिसाब लगाने में एक रुपये का तेल खर्च कर दे तो वह समझदार नहीं कहा जा सकता। **'टके की बुढ़िया और चवन्नी में उसका मुण्डन'**। किसान किसी के हंसने की परवाह किये बिना व्यग्रता से अपनी कौड़ी को ढूंढता ही रहा। ढूंढते—ढूंढते दैवयोग से उस की निगाह एक चिन्तामणि पर पड़ गयी। उसको लेकर वह कौड़ी खोने का गम भूल गया और खुशी से नाचने लगा। उसकी जन्म भर की दरिद्रता एक बार के फल मिलते ही दूर हो गयी। यदि वह

कौड़ी को तुच्छ समझ कर उसे ढूंढने का प्रयत्न न करता तो आज उसे चिन्तामणि कैसे मिल पाती ? इसी प्रकार जो साधक अपने गुरु प्रदत्त योग साधना को दृढ़ निश्चय, निष्ठा और आदर के साथ करते रहते हैं, ऐसा नहीं सोचते कि यह तो छोटी सी चीज है, इससे क्या होगा, सीधे कुण्डलिनी जागरण या आकाश गमन की ही साधना करें, तो वे कहीं के नहीं रहते। जो छोटी–छोटी योग क्रिया को निष्ठा पूर्वक करते रहते हैं, वे एक दिन समाधि के द्वार पर अपने को खड़ा हुआ देखते हैं। योग का कोई भी एक अंग सध जाय तो सम्पूर्ण योग सिद्ध हो जाता है। जैसे किसी को पकड़ना चाहें तो उसका कुर्ता हाथ में आ जाय या उसकी अंगुली ही हाथ में पकड़ने से वह व्यक्ति पकड़ा जाता है।

साधना में सिद्धि तभी मिला करती है जब वह लगातार बिना नागा किये प्रतिदिन निश्चित समय और निश्चित स्थान पर पूर्ण श्रद्धा और निष्ठा के साथ की जाय। कुम्भज वेष धारिणी महायोगिनी चुड़ाला ने अपने स्वामी शिखिध्वज को समझाया कि सफलता चाहने वाले व्यक्ति को कोई काम अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। जो भी कार्य करें पूर्ण रूप से अन्त तक सम्पन्न करें। जैसे पानी प्राप्त करने के लिए कोई कुँआ खोदने लगा। उसे बताया गया कि चालीस हाथ पर पानी मिल जायेगा। यदि वह बीस हाथ खोद कर रूक गया तो उसे पानी कहाँ से मिलेगा अथवा उसने जगह बदल–बदल कर चार जगह दस–दस हाथ खोदा और फिर शिकायत करने लगा कि मैंने पूरे चालीस हाथ खोदने की मेहनत की किन्तु मुझे पानी नहीं मिला। बताने वाला झूठा है। रानी चुड़ाला ने समझाया कि–हे नाथ ! जिस कार्य को भी करना है उसको पूरी तरह से करना चाहिए। यदि कुछ अधूरा रह जाता है तो पीछे कष्ट दायक होता है। मनुष्य का भविष्य उसके वर्तमान पुरुषार्थ से निर्मित होता है। वर्तमान की गलतियाँ और असावधानियाँ भविष्य में विस्तार पाकर दु:ख का कारण बनती है।

विन्ध्याचल के जंगल में एक बलवान हाथी रहता था। उसे देखकर एक महावत ने पकड़ने का संकल्प किया। बहुत से निष्फल उपायों के बाद अन्ततोगत्वा उसने सोते हुए हाथी को जंजीरों से जकड़ लिया और उसके मस्तक पर सवार होकर उसे अंकुश से चलाने लगा। जब हाथी को इसका भान हुआ तो वह क्रोध में चिंघाड़ कर अंगड़ाई लेकर जंजीरों को तोड़ने में सफल हो गया और महावत को नीचे गिरा दिया। महावत श्वांस रोक कर मुर्दे की तरह जमीन पर पड़ गया। हाथी ने उसे मृत समझ कर करुणावश उसे वहीं छोड़ दिया और जंगल की ओर दौड़ पड़ा। हाथी ने यह भयंकर भूल की। भविष्य में उसी महावत ने जमीन में गहरा गड्ढा खोद कर घास–फूंस से उसे आच्छादित कर दिया। हाथी जब उसे रास्ते आया तो धम्म से उस गड्ढे के अन्दर गिर गया। कई दिन भूख प्यास से व्याकुल हो दुर्बल हो गया। उस महावत ने दुर्बल हाथी को रस्सों की सहायता से बाहर निकाल कर अपना वाहन बना लिया। यदि हाथी पहले दिन ही अपने बन्धन कर्ता को नष्ट कर देता तो आज वह पुन: बन्धन में न पड़ कर विवश न होता। इसी प्रकार जो अपनी छोटी–छोटी बुरी आदतें को प्रारम्भ में नहीं सुधारते वही आदते एक दिन उसका सर्वनाश कर देती है। योगाभ्यास में छोटे–छोटे अन्तराय और विघ्न आते हैं, उनकी उपेक्षा करने से साधना बीच में ही रुक जाती है। जब तक उनको पूर्ण रूपेण नेस्तेनाबूद न कर दे तब तक चैन न लें। इसलिए रानी ने राजा से कहा–उठो ! सम्भलो, अपने पुरुषार्थ और विवेक से निरन्तर आगे बढ़ते रहो, आगे रहो। जब तक मंजिल पर न पहुँच जाओ। बीच में विश्राम न करने लगो–

''राम–काज कीन्हे बिना, मोहि कहाँ विश्राम।''

***

अद्भुत कृपालीला

लेखक—राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

मास्टर श्री रूप किशोर जी के छोटे पुत्र पर स्वयं श्री महाप्रभुजी ने अद्भुत कृपा वर्षा करते हुए उसके प्राणों की रक्षा की। तालाब के अन्दर मृत्यु से संघर्ष करते इस छोटे बालक को शंकर रूप में दर्शन देकर, श्री महाप्रभुजी ने उसे दीर्घ आयु का शुभ आशीर्वाद प्रदान किया। उनकी अहैतुकी कृपा से बालक कुछ ही दिनों में पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया। बच्चे की जीवन रक्षा से अत्यन्त प्रसन्न श्री रूप किशोर जी पूज्य गुरुदेव जी के पावन चरण कमलों का ध्यान करते हुए आश्रम पहुँचे। पूज्य गुरुदेवजी ने उन्हें इस लीला चरित्र से सम्बद्ध कर्मयोग सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करते हुए बतलाया कि प्रारब्धानुसार प्रत्येक प्राणी को प्राप्त होने वाले अच्छे—बुरे कर्मफल हर दशा में उसे भोगने ही होते हैं और यह भी बतलाया कि क्लिष्ट संस्कारों के काटने की अपेक्षा उन्हें भोगना ही हर प्रकार से शुभ होता है। भक्त वत्सल परम् गुरुदेवजी आगे अपनी ज्ञानामृत वर्षा में कहते हैं—

लला ! शुभाशुभ कर्मफल प्रत्येक व्यक्ति के शुभाशुभ चिन्तन के परिणाम हैं। राग—द्वेष में बंधकर अच्छा—बुरा जैसा भी चिन्तन हमने किया है। समय आने पर उसका अच्छा—बुरा फल भी हमको ही भोगना होता है दूसरों के अति क्लिष्ट कर्म संस्कारों को केवल सामर्थ्यवान योगीपुरुष ही भोग सकते हैं। क्योंकि वे त्रिगुणात्मक सत्ता के सूक्ष्म विश्लेषणों पर अपना अधिकार रखते हैं। प्रकृति के तीनों गुणों (सत्, रज और तम) के सूक्ष्म समायोजनों को वे स्वेच्छा से नियन्त्रित कर सकते हैं। दूसरों के हल्के क्लिष्टों को प्रभुजी में प्रबल अनुराग रखने वाले साधारण पुरुष भी अपने ऊपर भोग सकते हैं। किन्तु उनमें सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक होना चाहिये।

साधारण मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों की स्थिति नहीं होती अत: पिछले असंख्य जन्मों में वह किस प्रकार के क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कार अपने चित्त में कर्माशय के रूप में संचित कर चुका है, इस बात से वह पूर्णरूपेण अपरचित रहता है। समय आने पर जब कोई क्लिष्ट कर्म संस्कार अपने भोगफल के रूप में दारूण दु:ख देता हुआ प्रकट होता है तब वे लोग प्राय: बड़े भ्रमित हो जाते हैं। जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और अत्यधिक पुण्य कर्म करते हुए दैवीय सम्पदाओं से युक्त होकर जीवन यापन करते हैं उनकी यह धारणा होती है कि जब हम ईश्वर में दृढ़ विश्वास करते हैं, नित्य पूजन और पुण्यकर्मादि करते हैं तो फिर हमारे जीवन में इतने कतिपय कष्ट क्यों ? किन्तु कर्मयोग सिद्धान्त कहता है कि पिछले शुभाशुभ कर्मों का फल तो प्रत्येक मनुष्य को चाहें वह दैवीय सम्पदा वाला हो, चाहें आसुरी सम्पदा वाला, भोगना ही पड़ेगा।

व्यावहारिक रूप से भोले अज्ञानी मानव इस प्रकार के कष्टों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उनकी मानसिक क्रियायें **'असामान्य व्यवहार'** के अन्तर्गत कार्य करने लगती हैं। मानवदेह पर उभर कर आये भौतिक कष्टों को तो लोग अपने प्राकृत

नेत्रों से देख लिया करते हैं किन्तु सूक्ष्मरूप से मिल रही वे श्रीप्रभुजी की अप्रत्यक्ष कृपा को अनुभूत नहीं करपाते। इस प्रकार की कृपालीलाओं में मिल जाया करते हैं। मानिक चन्द दलाल जी तपेदिक रोग से बुरी तरह पीड़ित थे। श्री प्रभुजी ने उनके क्लिष्ट संस्कार को तीन दिन तक अपनी स्थूल देह पर भोग कर उनकी जीवन लीला को समाप्त होने से बचाया और पूर्णरूपेण स्वस्थ करके उन्हें योग की उच्च भूमिकाओं का विद्यार्थी बना कर जीवन निहाल कर दिया। श्री प्रभुजी ने उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार यहीं 'तले' (तपेदिक रोग में तले हुए भोज्य पदार्थ वर्जित होते हैं) खिलवा दिये थे। खाते ही वे मूर्छित हो गये। इसी दौरान में श्री प्रभुजी ने मानिक चन्द दलाल के भयंकर कष्ट को अपने शरीर पर लेना शुरू कर दिया। एक काले रंग का सघन वायुपुंज मानिक चन्द के मुंह से निकला और श्री प्रभुजी की देह में समा गया। इस भयंकर रोग की पीड़ा से श्री प्रभुजी बहुत अस्वस्थ रहे। इधर श्री प्रभुजी मानिक चन्द दलाल के कष्ट को हर कर उसे नया जीवन प्रदान कर रहे थे। उधर उन्हें मरणासन्न अवस्था में देखकर दलालजी की धर्मपत्नि, हमारी गुरुबहिन ज्ञान देवी अपना धैर्य खो बैठीं। उन्हें यह तो प्रत्यक्ष दीख रहा था कि उनके पति शीघ्र ही संसार को छोड़ने वाले हैं किन्तु दूसरी ओर मानिक चन्द दलाल श्री प्रभुजी की जिस कृपा का आनन्द ले रहे थे। उसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। भावावेश में आकर उन्होंने श्रीप्रभुजी के प्रति दुर्वचनों का प्रयोग भी कर डाला था। किन्तु बाद में भारी पश्चाताप किया।

मीरा की तरह हर व्यक्ति का विष, अमृत में नहीं बदल सकता। प्रत्येक दुश्चरित्र स्त्री को रामरँती जैसी ध्यान स्थिति (समाधी) नहीं प्राप्त हो सकती। ऊँची कृपाओं को पाने के लिए ऊँचे पुण्य कर्म संस्कारों का संचय भी चाहिए। इसीलिए कठोर समय द्वारा ली जा रही परीक्षा की घड़ी में मनुष्य को अपना धैर्य नहीं खोना चाहिये। किसी का जीवन बचे या न बचे किन्तु शोक नहीं करना चाहिये। जीवन बच जाये तो बहुत अच्छी बात है, यदि नहीं बचे तो अनावश्यक दुःख करने की अथवा किसी भी प्रकार का मन में क्षोभ लाने की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि ऐसे दुःखद घटनाचक्रों के दौरान श्री प्रभुजी के चरण कमलों में बराबर चिन्तन बनाये रखने की होती है। किन्तु शोक करना तो किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि पर भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को बार–बार समझाते रहे है–हे अर्जुन ! तू शोक मत कर। तू मुझे अतिशय प्रिय है।

दुनिया से जाने वाले का हित यदि 'जीवन खोने' में ही सर्वोपरि है ऐसा श्री प्रभु जी देख रहे हैं तो–दुनियाँ से जाने वाला तो जायेगा ही। उसके लिए कैसा रोना और कैसा शोक करना ? वह व्यक्ति अत्यन्त समझदार है जो ऐसे हालातों में अपनी गुरुभक्ति और श्री प्रभुजी के चरण कमलों में बनी अपनी अटूट श्रद्धा को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होने देता।

मास्टर जी ने पूछा–प्रभुजी ! गुरुभक्तों के लिए भी यही कर्म योग सिद्धान्त लागू होता है। ? श्री गुरुदेव जी बोले–लला ! कर्मयोग सिद्धान्त अपने विविध रूपों के साथ सभी पर समान रूप से ही लागू होता है। गुरुभक्तों के पूर्वकृत और वर्तमान कर्म, कर्मयोग सिद्धान्त के अनुसार ही समायोजित

होकर फल दिया करते हैं। किन्तु उन्हें गुरु भक्ति का एक विशेष लाभ प्राप्त होता है। मेरा कहने का आशय यह है कि आध्यात्मिक जगत में गुरूभक्ति ही हर दृष्टि में श्रेष्ठ और सर्वोपरि है जिसके फलस्वरूप सभी क्लिष्ट संस्कार शीघ्रातिशीघ्र क्षीण होते चले जाते हैं और सभी शुभ और आवश्यक मनोकामनायें पूर्ण होने लगती हैं।

एक बात विशेष ध्यान में रखने की है ऐसे गुरुभक्त जिनके स्वभाव में विनय का अभाव और अहंकार की प्रबलता पायी जाती हो तथा गुरु आज्ञा पालन में उपेक्षात्मक रुख भी अपनाते हो ऐसे गुरुभक्तों को भी तुरन्त श्री प्रभुजी की कृपा का प्रसाद मिलता हो, कहा नहीं जा सकता है। वे स्वयं ही जानें किन्तु यह तो सर्वदा सत्य है कि 'अहंकार' श्री प्रभुजी के चरण कमलों में सच्ची प्रीति नहीं होने देता। योगमार्ग पर चलकर सफलताओं की ऊँचाइयों को स्पर्श करते अनेक साधकों को हमने, अहंकार (काम, क्रोध, मोह) के वशीभूत होते ही पतन की राह पर आते देखा है। देखो ! इसीलिए मैं तुम सभी से बार–बार यह कहता रहता हूँ कि श्री प्रभुजी सर्वशक्तिमान हैं वे ही परम गुरु हैं, वे ही परम्दयालु हैं और वे ही परम् दाता हैं। कहाँ भटकोगे तुम ? कहाँ जाओगे ? कहीं कुछ नहीं पा सकोगे। बस एकबार उनके श्री चरण कमलों में तुम सभी अपनी सच्ची प्रीति कर लो, फिर देखो तुम उन अनन्त सुखराशि महायोगेश्वर श्री प्रभुजी से वह सब कुछ प्राप्त कर लोगे जिसकी साधारण व्यक्ति न कल्पना कर सकता है और न विश्वास ही।

देखो ! तुम सारे श्री प्रभुजी से रोज कितने वायदे करते हो, अपने सुधार लाने के लिए कितनी बार वचन देते हो। किन्तु तुम लोग अपना एक भी वचन पूरा नहीं करते। वे प्रभुजी कितने दयालु हैं वे तुम्हारी श्रद्धायुक्त होकर मनोकामना पूर्ति हेतु की गयी प्रत्येक प्रार्थना को सुनते हैं और अनुकूल समय पाते ही उसे अवश्य–अवश्य पूरा करते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि अनुकूल समय तुम्हारे वर्तमान समय में (जन्म में) उपलब्ध न होकर, भविष्य में होने वाले जन्मों में प्राप्त हो तब मनोकामनायें आने वाले जन्मों में ही पूर्ण होती हैं। समय जब तक हमारी मनोकामनाओं के अनुकूल नहीं हो जाता तब तक श्री प्रभुजी इच्छित फल प्रदान नहीं किया करते क्योंकि प्रतिकूल समय में प्रदत्त वस्तु का दुरूपयोग होता है, उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। साथ ही साथ मनोनुकूल फल प्राप्तकर्ता को बजाए लाभ के हानि उठानी पड़ती है। योगदा सोसाइटी से सम्बन्धित **'लाहड़ी महाशय'** ने अपने पूर्व जन्म में इस मनोकामना को लेकर तप किया कि उन्हें श्री प्रभुजी भव्य राजमहल के अन्दर **'क्रियायोग'** की दीक्षा प्रदान करें।

मेरे परम गुरुदेव योग योगेश्वर आनन्द कन्द श्री प्रभु जी (महाअवतार बाबाजी) द्वारा भेजे गये एक मार्गदर्शक के आदेश पर **'लाहड़ी महाशय'** उनके साथ जंगलों में घूमते रहे। घनघोर जंगलों में उन्हें एक प्रकाश–पिण्ड दिखलायी पड़ा। पूछने पर मार्गदर्शक ने बतलाया–महागुरु बाबाजी ने इस महल की सृष्टि की है, जिसे तुम प्रकाश पिण्ड समझ रहे हो। सुदूर अतीत (पूर्वजन्मों) में कभी तुमने ,स्वर्ण महल के सौन्दर्य का आनन्द लेने की इच्छा व्यक्त की थी। अब तुम्हारी मनोकामना के अनुकूल समय पाकर, वे महागुरु तुम्हारी उस इच्छा की पूर्ति करना

चाहते हैं। साथ ही साथ इस इच्छा की प्रबल भावना करके तुमने जो कर्मबन्धन बना लिया था, इस स्वर्ण महल का आनन्द लेने के बाद वह कर्मबन्धन भी टूट जायेगा। वे परम गुरु इस भव्य महल में आज रात को तुम्हें 'क्रियायोग' की दीक्षा प्रदान करने का उद्योग भी करेंगे।

'लाहड़ी महाशय' ने जब उस स्वर्ण महल का दर्शन किया तो अवाक् रह गये। विस्मय से स्तम्भित होकर वे मौन धारण कर स्वर्ण–महल के सौन्दर्य को आश्चर्य से निहारते रहे। लला ! महल का सौन्दर्य इतना अद्भुत था कि जो मानवी कल्पना की परिधि में नहीं आ सकता। बहुमूल्य हीरों, नीलमों और पन्नों आदि कीमती रत्नों से जड़ित उस महल की शोभा अतुलनीय थी। अनेक प्रकार की कारीगरी का निर्माण किया गया था उस स्वर्ण महल में। 'लाहड़ी महाशय' खुशी से उस महल में घूमते रहे, बार–बार उसकी दीवारों को छूकर देखते कि जंगल में यह सचमुच का महल है या कोई सुन्दर स्वप्न देख रहा हूँ। इसलिए मैं बार–बार कहा करता हूँ कि इस घोर कलिकाल में श्री प्रभुजी चरण कमलों में आश्रय मिलना, उनका प्यार–दुलार और कृपा–अनुग्रह का प्राप्त होना बड़े ही भारी पुण्य कर्मों का परिणाम है।

मैं देख रहा हूँ तुम सभी उनके दिव्य तेज में नित्य निहाल हो रहे हो। तुम सभी से मैं बस एक ही बात कहना चाहता हूँ कि समय की उपयोगिता को देखो उसका सदुपयोग करो। सांसारिक और महत्वाकांक्षा से प्रेरित वासना जनित अनावश्यक उपलब्धियों हेतु उद्योग करने में अपना समय मत नष्ट करो। निन्दा–चुगली, रागद्वेष से रहित होकर संयमित जीवन अपना कर योग मार्ग का अनुसरण करो और श्री प्रभुजी के चरण कमलों में अपना बराबर चिन्तन बनाते हुये दृढ़ श्रद्धा से युक्त प्रीति बनाये रखो। फिर देखो त्रिगुणात्मक सत्ता की हर दशा में तुम्हारा कल्याण ही कल्याण है। तुम्हारे सभी कार्य बनते चले जायेंगे।

श्री गुरुदेव जी काफी देर से बोल रहे थे। उस समय शिष्यों की संख्या भी विशेष नहीं थी। फुर्सत के क्षणों में श्री गुरुदेव भगवान अपने जिज्ञासु बच्चों में अत्यधिक रुचि लिया करते थे। वे उनकी प्रत्येक जिज्ञासा को आह्लादित होकर बड़े सरल ढंग से समझाकर शान्त कर दिया करते थे।

श्री गुरुदेव जी लगातार अमृत वचनों की सहज वर्षा कर रहे थे–"लला ! योगाधिपति नेपाल वासी मेरे उन परम् गुरुदेव आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के सम्पूर्ण लीला चरित्रों में, कदम–कदम पर योग विज्ञान के सुन्दर पुष्प मानव जीवन को अक्षय आनन्द से भरने के लिए, योगविद्या की दिव्य सुगन्ध का उन्मुक्त वितरण करते हुये खिलखिलाते–मुस्कराते नजर आते हैं। जैसे कह रहे हों– तुम क्यों रोते हो ? एक बार हमारे समीप आ जाओ हमारी दिव्य सुगन्ध (श्री प्रभुजी के लीला चरित्रों में छिपी शिक्षाओं प्रेरणाओं) का रसास्वादन करके तो देखो। अगर विचलित नहीं हुये थोड़ी देर भी विनय भाव से टिक गये तो विश्वास करो निहाल हो जाओगे, अमर जीवन पा जाओगे। उस अद्भुत विराट आलोक में जगमगा उठोगे जिसकी सापेक्षता में हजारों करोड़ों सूर्यों के प्रकाश भी अपनी तुच्छता–नगण्यता को प्राप्त होकर अपने अहंकार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, और उस महान ईश्वरी तेज के सम्मुख बारम्बार नमन करते हैं।

श्री गुरुदेव के परम आश्रम में उपस्थित वहाँ सभी गुरुभक्त उनकी पवित्र उद्घोषणाओं का बड़े ध्यानपूर्वक आनन्द ले रहे थे। चारों तरफ वातावरण में निस्तब्धता छायी हुई थी। सभी के हृदय में सच्ची प्रेमानुभूति के बादल उमड़–उमड़ कर आ रहे थे। जी कर रहा था कि गुरुदेव के चरण कमलों से लिपट कर घण्टों रोते रहें। भाव विह्वलता की ऐसी दशा में श्री रूप किशोर जी बोल उठे– प्रभुजी ! समय तो बहुत हो गया है मेरी एक जिज्ञासा शेष रह गई है ; आप काफी देर से बोल रहे हैं। इस लिए निवेदन करने का साहस पैदा नही हो पा रहा है।

तेजस्वी मुखमण्डल पर प्रसन्नता के भाव लाते हुये श्री गुरुदेवजी कहने लगे, अच्छा लला ! क्या जिज्ञासा है ? मास्टर जी ने कहा–"प्रभुजी ! मेरे छोटे पुत्र को महाप्रभुजी (श्री रामलालजी महाराज) ने शिव रूप में तालाब के अन्दर दर्शन देकर उसके प्राणों की रक्षा की। मेरे बच्चे द्वारा बताये अनुसार उनके शंकर मय दिव्य–भव्य स्वरूप में कण्ठ पे लिपटते सर्पों का अभाव क्यों था जबकि उनके सुन्दर मस्तक् पर चन्द्रमा गर्व से सुशोभित हो रहा था।" गुरुदेव बड़े ध्यान से सुन रहे थे। किन्तु बिल्कुल शान्त थे कुछ नहीं बोले। लगता था जैसे किसी अनन्त गहराई वाले सागर के गर्भ में छिपे बहुमूल्य मोतियों को प्राप्त करने के लिए सागर में उतरने की तैयारी कर रहे हों। गुरुदेव को शान्त पाकर मास्टरजी ने पुनः बोलना शुरू किया– **"अपूर्ण शंकर सौन्दर्य"** मन में आह्लाद उत्पन्न करते हुये भी कुछ और जानने के लिए मन उतावला है। महा प्रभुजी के इस स्वरूप का रहस्य–बोध जानने की हृदय में तीव्र इच्छा है। प्रभुजी ! क्या महाप्रभुजी के इस लीला चरित्र में भी कोई योग विज्ञान निहित है ? जिसे जानने के लिए शायद हमारे मन में बार–बार हलचल उठ रही है। हे योगेश्वर ! हमें उस योग परक ज्ञान का बोध कराने की कृपा करें, क्योंकि आपके अतिरिक्त हमें त्रिलोक में कोई दूसरा नजर नहीं आता जो आपके भेद को खोलने में सक्षम हो।

आप में और महाप्रभु जी में कोई भेद नहीं है। उनके समस्त चरित्र आपके ही चरित्र हैं और आपके चरित्र उन महान योगेश्वर के ही लीला चरित्र हैं। जो आप दोनों में भेद करता है उसे 'अल्पज्ञ' ही कहा जा सकता है। अपनी लीलाओं के रहस्य आप स्वयं ही जानते हैं और कोई नहीं। हे भक्त वत्सल ! प्राणिमात्र के रक्षक, हे विश्व पालक परम् गुरुदेव कुछ दया कीजिए।

सर्वभूतान्तरात्मा श्री गुरुदेवजी बोले–लला ! बहुत अच्छा प्रश्न है तुम्हारा। योग विज्ञान के विषय में तात्विक विवेचन की दृष्टि से यह तुम्हारा अति श्रेष्ठ है। देखो लला ! ईश्वर स्वयं विज्ञान स्वरूप है योगमार्ग में असफलता ही हाथ लगती है यदि हम अपने मन माने ढंग से चलते रहेंगे। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के विज्ञानमय स्वरूप को प्रत्येक योगाभ्यासी द्वारा भलीभांति समझकर आत्मसात करना चाहिए ताकि योगमार्ग से विचलित होने के कोई अवसर ही न प्राप्त हो सकें।

देखो, लला ! बच्चे के प्रारब्ध कर्म संस्कार अति क्लिष्ट थे। उसके द्वारा दारुण कष्ट को भोगा जाना अनिवार्य ही था। किन्तु अपने बच्चों के हित में, श्री प्रभुजी के यहाँ 'अनिवार्य' शब्द का कोई

महत्व नहीं है। प्रबल प्रेम के वशीभूत होकर श्री प्रभुजी अपनी समस्त अनिवार्यताओं को तोड़ डालते हैं।

बच्चे की जीवन रक्षा के दौरान श्री प्रभुजी ने अपना एक हाथ बच्चे के दिल पर इसलिए रख लिया था ताकि हृदय को अपनी स्वाभाविक सामान्य गति मिलती रहे। श्री प्रभुजी ने बालक के सिर पर जो हाथ रखा था वह उनका वरदहस्त था। जिसके द्वारा वे बच्चे के आयुष्य की रक्षा करके उसे अपना दुर्लभ आशीर्वाद प्रदान कर रहे थे। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने अपने मस्तक पर चन्द्रमा इसलिए धारण किया था ताकि बच्चे को प्राप्त भारी कष्टों की अग्नि के समान जलन में चन्द्रमा की मधुर शीतलता का सुख मिलता रहे। श्री प्रभुजी की अंगारों के सदृश लाल–लाल आँखें इस बात की सूचक हैं कि वे मेरे परम् गुरुदेव बच्चे का समस्त संताप अपने नेत्रों से हर रहे थे। लला ! करुणानिधान श्री प्रभुजी ने बालक को अपनी गोद में इसलिए बिठा लिया था ताकि बच्चे की सभी ओर से प्राकृतिक संघातों से सुरक्षा की जा सके। जिस प्रकार माँ के गर्भ में बच्चा हर तरफ से सुरक्षित रहता है ठीक उसी प्रकार यह बालक उन करुणार्णव की गोद में सुरक्षित रह सका। अब रही बात सर्पों की, जो तुम्हारे प्रश्न की प्रमुख जिज्ञासा है। देखो, लला ! भय आदि संवेदनाओं का हृदय पर भारी असर पड़ता है। इस प्रकार की दशाओं में कमजोर हृदय वाले अथवा हृदय रोग से पीड़ित लोग सामाजिक वातावरण में तुरन्त अपने प्राणों से हाथ धोते देखे जाते हैं। मानसिक विक्षिप्तता भी विकृत संवेदनाओं का ही दुष्परिणाम है। तालाब में गिरने की पीड़ा से मिलने वाले दारुण कष्टों को सहते हुये बच्चे का हृदय बहुत कमजोर हो चुका था। ऐसी दशा में यदि श्री प्रभुजी अपने गले में सर्पों को धारण कर लेते तो बच्चा उन्हें देखकर डर जाता और इसका दुष्प्रभाव उसके दिल पर पड़ता। परिणामस्वरूप सर्पों से भयाक्रांत बच्चा अपनी हृदय गति को खोकर अपने बहुमूल्य प्राण गवाँ सकता था। इसलिए श्री प्रभुजी ने बच्चे के हित में सर्पों को अदृश्य ही रखा। ऐसा कहते हुये प्रभुजी अपनी कुर्सी से खड़े हो गये खेतों से सम्बन्धित आवश्यक कार्यों की जानकारी ब्रह्मचारियों से लेना चाहते थे। श्री रूपसिंह जी ने श्री गुरुदेवजी से घर जाने की आज्ञा ली। बड़े पुलकित मन से उनके श्री चरणों में दण्डवत प्रणाम किया। प्रभुजी ने दोनों हाथों से उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगा लिया और ढेर सारा प्रसाद दिया।

क्रमशः

नोट—'अद्भुत कृपालीला' शीर्षक से वर्णित इस घटना चरित्र में प्रभुजी द्वारा कही गई कुछ योग परक शिक्षायें ऐसी हैं जो आश्रम में आने वाले अन्य व्यक्तियों से अन्य समयों पर कही गई हैं। चरित्र में रोचकता लाने की दृष्टि से मैंने उन्हें मा. श्री रूप किशोर जी को माध्यम (जिज्ञासु) बनाकर आप सभी श्री प्रभुजी के लाड़ले–दुलारे बच्चों तक पहुँचाने का साहस किया है। आशा है आप लोग मुझे क्षमा कर देंगे। श्री प्रभुजी के चरण कमलों में मैं बारम्बार क्षमा प्रार्थी हूँ।

***

किमस्ति योगः

(एक विंशतिः श्रृंखला)

रचनाकार : **द्वारका प्रसाद शर्मा**, लखनऊ।

प्रस्तुत रचना 'किमस्ति योगः' शीर्षक से लिखी जा रही एक विंशति (इक्किसवीं) श्रृंखला है। पूर्व की भांति इस रचना में क्रम से लिखे जा रहे योग दर्शन के दो सूत्रों को लिया जा रहा है जिन्हें संस्कृत वाङ्मय में ही श्लोकबद्ध कर हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रस्तुत किया जा रहा है। जिन दो सूत्रों को इस रचना में लिया गया है, वे निम्नलिखित हैं।

—जाति देश काल समयानवाच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।

—शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।।

अब पूर्ववत् श्री सद्गुरुदेव के श्री चरणों का स्मरण करते हुए उनका यह अकिञ्चन शिष्य सूत्रों की विवेचना मुमुक्षु योग साधकों एवं जिज्ञासुओं के मनन एवं चिन्तन हेतु प्रस्तुत कर रहा है।

(१) **बारम्बारं गुरो रूपं, हृदि संधार्य श्रद्धया।**
योग दर्शन सूत्राणि, व्याख्यास्य आज्ञया गुरोः।।

श्री सद्गुरुदेव के स्वरूप को श्रद्धापूर्वक बार—बार हृदय में धारण करते हुए उन्हीं की आज्ञा लेकर मैं योगदर्शन के सूत्रों की व्याख्या करूँगा।

(२) **श्री गुरोरनुकम्पैषा, दुष्करं सुकरायितम्।**
क्व योगारण्यं गहनं, क्व च पान्यश्च मादृशः।।

श्री सद्गुरुदेव की ही यह अनुकम्पा है कि दुष्कर को भी सुकर कर दिया है। कहाँ वह योग का गहन कानन और कहाँ उसमें मुझ सरीखा एक पथिक।

(३) **श्री गुरोरान्तर बलं, ईरते मां पुनः पुनः।**
एतद् कार्य विधानाय, यतश्चाहं समुद्यतः।।

श्री सद्गुरुदेव द्वारा प्रदत्त आत्मबल ही मुझे इस कार्य के निष्पन्न करने में बार—बार प्रेरित करता रहा है जिससे मैं इसे करने को तत्पर हुआ हूँ।

(४) **निम्नांकितानि सूत्राणि, क्रमादायान्ति यानि च।**
तान्येवावलम्ब्याहं, वक्ष्ये रीत्या तु पूर्ववत्।।

क्रमागत अगले सूत्रों को आधारित कर मैं पूर्व की भांति ही उनका विवेचन करूँगा।

—सूत्रं तदर्थसहितञ्च।

—जाति देश काल समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।

(५) **प्रागुक्ताये यमाः पञ्च, महाव्रतेन संज्ञिताः।**
आबद्धाश्चेन तेऽपि स्युः, जाति देशादि कारकैः॥

जाति, देश, काल, समय में आबद्ध न होकर पहले बताये गये पाँच यमों का पालन करना महाव्रत है।

(६) **यमा इमे तु सर्वत्र, सह सर्वैः समभावतः।**
सार्वकालं प्रकुर्वाणाः, ते भवन्ति महाव्रताः॥

पहले सूत्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँच यम बताये गये हैं। इनको सब जगह, सबके साथ, सब समय समान भाव से करने पर ये महाव्रत हो जाते हैं।

(७) **कश्चिन्नरो निश्चिकाय, मीनव्यतिकरं विना।**
न हनिष्येऽपरं जीवं, अहिंसा जाति संज्ञका॥

किसी मनुष्य ने यह निश्चय किया कि वह मछली से अतिरिक्त किसी अन्य जीव को नहीं मारेगा, ऐसी अहिंसा का व्रत जाति संज्ञा में आता है।

(८) **तीर्थेषु न हनिष्यामि, अहिंसा देश संज्ञका।**
केनचित्तु प्रतिज्ञातं, पूर्णिमा दर्शयोश्चन॥

(९) **हिंसा नैव करिष्येऽहं, अहिंसा काल संज्ञका।**
कस्याचित्तु प्रतिज्ञैषा, विवाहावसरं विना॥

(१०) **हिंसाऽन्या न करिष्येऽहं, अहिंसा समयाभिधा।**
एवमन्य यमेष्वेव, कर्तव्या संप्रधारणा॥

मैं तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा धारण करना या व्रत का पालन करना किसी देश विशेष अथवा स्थान विशेष में व्रत वाली अहिंसा कहलाती है।

किसी व्यक्ति का पूर्णिमा या अमावस्या काल में अहिंसा का व्रत धारण करना एक काल विशेष की अहिंसा कहलाती है।

किसी व्यक्ति विशेष का यह निश्चय या व्रत धारण करना कि मैं विवाह के अवसर

के अतिरिक्त हिंसा नहीं करूँगा, ऐसा अहिंसा का व्रत पालन करना समय विशेष पर पालन की जाने वाली अहिंसा कहलाया करती है।

इसी प्रकार की अवधारणा अन्य शेष यमों के प्रति भी कर लेनी चाहिये।

(११) प्रतिबन्धाद्विना चेद्धि, सर्वत्र सर्वप्राणिभिः।
सर्वदा पालनं तेषां, सार्वभौमं महाव्रतम्॥

यदि उक्त सभी यमों का पालन बिना किसी प्रतिबन्ध के और सब जगह, सर्वदा सब प्राणियों से करने का व्रत लिया जाय तो वही सार्वभौम—महाव्रत की कोटि में आ जाता है।

यमान्निगद्य साम्प्रतं सूत्रे नवे नियमाननुवर्णयति पतञ्जलिर्भगवान्।

—सूत्रं तदर्थ सहितम्।

—शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

(१२) आद्यं शौचं निगदितं, सन्तोषं तु द्वितीयकम्।
तपस्तृतीयं भणितं, स्वाध्यायस्तु चतुर्थकम्।

(१३) ईश्वर प्राणिधानं तु, पंचमं परिकीर्तितम्।
पंचैते नियमाः प्रोक्ताः, पतंजलि महर्षिणा।

नियम भी पांच हैं। पहला शौच, दूसरा सन्तोष, तीसरा तप, चौथा स्वाध्याय और पाँचवाँ ईश्वर शरणागति अथवा प्रणिधान। ये ही पाँच नियम महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये हैं।

(१४) मनसश्च शरीरस्य, द्विविधा शुद्धिरुच्यते।
एवं शौचं तु द्विविधं, भण्यते योगविज्ज्नैः॥

शौच दो प्रकार का होता है। एक शरीर का और दूसरा मन का। शरीर और मन दोनों की शुद्धि का नाम ही शौच है।

(१५) जलादिना शरीरस्य, सत्वाहारेण वा पुनः।
वस्ति नेति क्रियाभिश्च, बाह्य शुद्धि रुदीरिता॥

शरीर की शुद्धि जल आदि के प्रयोग से और सात्विक आहार के सेवन करने से तथा वस्ति, नेति, धौति आदि यौगिक क्रियाओं के सम्यक् निष्पादन से हुआ करती है। यही शरीर की बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि हुआ करती है जो शौच नियम के अन्तर्गत है।

(१६) चिन्तनं सुविचाराणां, विकाराणां विवर्जनम्।
धर्माचरणं सतां संगं, मनसः शुद्धिरिष्यते।।

सुन्दर और शुभ विचारों का चिन्तन, कामादि विकारों का विवर्जन, धर्म का आचरण और सज्जनों का सम्मिलन ये मन की शुद्धि के अन्तर्गत अभीष्ट है।

(१७) प्राणरक्षा निमित्ताना, वस्तूनामेव संग्रहः।
तुष्टिः सर्वास्ववस्थासु, सन्तोष इति मण्यते।।

केवल प्राण रक्षा के निमित्त उपयोगी वस्तुओं का संग्रह और प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्टि की अनुभूति रहे, यह सन्तोष कहा जाता है।

(१८) इन्द्रियाणाञ्च मनसो, निग्रहस्तपसा सह।
द्वन्द्वेषु समभावश्च, तपः संप्रमुदीरितम्।।

इन्द्रियों का और मन का तपस्या के द्वारा निग्रह करना तथा सुख–दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों में समान भाव रखना, तपः रूप नियम के अन्तर्गत है।

(१९) वेदशास्त्रोपनिषदां, पठनं मननं तथा।
प्रणवादि मन्त्र जापं, स्वाध्यायः परिकीर्तितः।।

वेद, शास्त्र तथा उपनिषदों का पठन और मनन करते रहना, प्रणव (ओंकार) आदि मंत्रों का जाप करना तथा आत्मावलोकन करना ये सब स्वाध्याय नियम के अन्तर्गत है।

(२०) मनसा वपुषा वाचा, शरणागतिरीश्वरे।
सर्वं समर्पण, तस्मिन्, ईश्वर प्रणिधानकम्।

मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर की शरणागति तथा उस ईश्वर के प्रति समर्पण भाव रखना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

(२१) गदितं लिखितं यद्यद्, सर्वं तच्च गुरोः कृपा।
समर्प्य तच्चरणयोः, भूयो भूयो नमाम्यहम्।।

ऊपर जो कुछ कहा गया या लिखा गया है वह सब श्री सद्गुरुदेव की कृपा ही है। उन्हीं के चरण कमलों में समर्पित करते हुए मैं बारम्बार उन्हें नमन करता हूँ।

जय श्री गुरुदेव

***

सांख्य योग और कर्मयोग

डा. स्वामी केशवाचार्य (गुजरात)

साधारणतः लोगों की यही धारणा है कि सांख्य और योग की प्रणाली भिन्न-भिन्न है, यही क्यों, वे परस्पर विरोधी भी हैं। व्यापक वेदान्तिक सत्य के साथ इन दोनों प्रणालियों एवं निष्ठाओं का, जो देखने में विरोधी जान पड़ती है, समन्वय करना ही गीता के पहले छः अध्यायों का उद्देश्य है। सांख्य को ही आरम्भ या भीत्ति के रूप में रखा गया है। किन्तु इसको आरम्भ से ही योग के भाव में अनुप्राणित कर क्रमशः योग के भाव और प्रणाली के ऊपर ही अधिक जोर दिया गया है। योग के मत से आन्तरिक वासनाओं का परित्याग करना होता है। कर्म के आन्तरिक तत्व का संशोधन करना पड़ता है। कर्म को ईश्वराभिमुखी करना पड़ता है।—देवजीवन को और मुक्ति को प्राप्त करना ही कर्म का उद्देश्य बनाना पड़ता है। ऐसा होना ही योग के मत से यथेष्ट है। अतः दोनों प्रणालियों का लक्ष्य-उद्देश्य एक ही है। जन्म और संसार का अतिक्रम करना एवं जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाना— गीता यही समझाती है।

इन दो प्रकार की परस्पर-विरोधी निष्ठाओं का समन्वय किस प्रकार से हो सकता है। इसके समझने में अर्जुन को कष्ट होने का कारण यही है कि उस काल में साधारणतः इन दोनों में खास भेद माना जाता था। भगवान कर्म और बुद्धि योग का समन्वय करते हुए ही उपदेश प्रारम्भ करते हैं। भगवान कहते हैं कि बुद्धियोग की अपेक्षा केवल कर्म अत्यन्त निःकृष्ट है—दूरेण ह्यवरं कर्म। बुद्धियोग और ज्ञानयोग के द्वारा मनुष्य को साधारण मनोभावों एवं वासनाओं से छुड़ा कर सम्पूर्ण वासना शून्य ब्राह्मी स्थिति की पवित्रता और समत्व में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा तभी कर्म ग्राह्य होगा। कर्म मुक्ति का उपाय है, परन्तु वह कर्म इस प्रकार ज्ञान के द्वारा शुद्ध होना चाहिये। अर्जुन तत्कालीन प्रचलित शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित थे। भगवान वेदान्तिक सांख्य के उपयोगी तत्वों पर विशेष जोर देने लगे। इन्द्रिय जय, मन से हट कर आत्मा में निवास करना, ब्राह्मी स्थिति में पहुँचना, विराट भाव में अहं भाव को लय कर देना, इन सारी बातों को विशेष रूप से कहने लगे। योग के विषय में तो उन्होंने सामान्य रूप से ही कहा। इसी कारण अर्जुन के हृदय में एक विकट संशय उत्पन्न हुआ और उन्होंने पूछा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किंकर्मणि घोरे माँ नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोह यसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। (३/१–२)

हे जनार्दन, हे केशव ! यदि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और यही आपका मत है तो मुझे हिंसात्मक कर्म में क्यों नियुक्त करते हो। कभी कर्म की प्रशंसा कभी ज्ञान की प्रशंसा करते हुए इस प्रकार विभिन्न वाक्यों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हो। इन दोनों में जो अच्छा हो उसे ही निश्चित करके कहो। जिससे मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूँ।

उत्तर में भगवान कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान और संन्यास सांख्य का पथ है और कर्म योग का पथ है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्।। (३/३)

किन्तु योग के साधन के बिना यथार्थ संन्यास असम्भव है—यज्ञरूप में कर्म करना होगा, लाभालाभ, जय पराजय को समान जानकर फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म करना पड़ेगा। प्रकृति ही कर्म करती है, आत्मा कुछ नहीं करती इसकी उपलब्धि करनी होगी। ऐसा किये बिना यथार्थ संन्यास की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इसके अनन्तर ही भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, ज्ञान में ही सर्व कर्मों की समाप्ति होती है। ज्ञान रूप अग्नि सारे कर्मों को भस्मीभूत कर डालती है। अतएव जिसने आत्मज्ञान को प्राप्त किया है, योग के द्वारा ही उसका कर्म—संन्यस्त होता है और इस प्रकार के आत्मवान व्यक्ति को कर्म बाँध नहीं सकते—

योग संन्यस्त कर्मणां ज्ञान सछिन्न संशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।। (४/४१)

अब अर्जुन फिर सन्देह में पड़े— वासना हीन कर्म योग का मूल है एवं कर्म संन्यास और त्याग सांख्य का मूल है। इन दोनों को बराबर रखा गया है। मानो ये एक ही साधना के अंग हों, परन्तु दोनों में किसी भी प्रकार से इससे पहले जो सामञ्जस्य दिखलाया है, वह यही है कि बाह्य कर्मशुन्यता में (स्वरूप से कर्मों के त्याग में) भी समझना होगा कि कर्म हो रहा है और आत्मा जब अपने को कर्ता मानने के भ्रम को समझ सके और सारे कर्मों को जब यज्ञेश्वर को अर्पण कर दे, जब बाह्य कर्म परायणता में (स्वरूप से कर्म करते रहने पर) भी यथार्थ नैकर्म को समझना चाहिये। परन्तु अर्जुन की कर्मशील व्यावहारिक बुद्धि इस सूक्ष्म भेद को समझ नहीं सकी। अतः उन्होंने पुनः प्रश्न किया—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। (५/१)

हे कृष्ण ! आप सारे संन्यास का उपदेश देकर, फिर कर्मयोग का उपदेश देते हो। इन दोनों में मेरे

लिए जो श्रेय हो उसे ही निश्चित कर के मुझसे कहो। भगवान श्री कृष्ण ने जो इसका उत्तर दिया वह विशेष प्रयोजनीय है। क्योंकि उसमें दोनों का भेद खूब स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है और यहाँ दोनों में पूर्ण सामंजस्य सिद्ध नहीं किया जाने पर भी, किस प्रकार इनका सामंजस्य होगा, इस बात को दिखा दिया है।

श्री भगवान कहते हैं कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। (५/२—५)

संन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही निः श्रेयस प्रदान करते हैं। परन्तु इन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्म योग उत्कृष्टतर है। जो न तो द्वेष करते हैं और न आकांक्षा करते हैं, उन्हें नित्य संन्यासी (कर्मानुष्ठान काल में भी) जानना चाहिये। क्योंकि राग द्वेषादि द्वन्द्व शून्य व्यक्ति अनायास ही बन्धन से छूट जाते हैं। अज्ञानी लोग ही सांख्य और योग को पृथक बतलाते हैं; ज्ञानी नहीं। इनमें से भी सम्यक् रूप से अनुष्ठान करने पर दोनों के ही फल प्राप्त होते हैं। क्योंकि सम्यक् भाव से पालन करने में दोनों में ही एक के भीतर दूसरा अंगभाव से आ जाता है। सांख्य के द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, योगीजन भी उसी को प्राप्त होते हैं, जो सांख्य और योग को एक देखते है वे ही ठीक देखते हैं। किन्तु योग के बिना संन्यास की प्राप्ति कष्टकर है। योग युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। उनकी आत्मा सर्वभूतों का (अर्थात् संसार में जो कुछ है, सबका) आत्मा हो जाता है। इस प्रकार का पुरुष कर्म करते हुए भी कर्म में बद्ध नहीं होते। वे जानते हैं कि कर्म उनके नहीं है। प्रकृति के हैं एवं इसी ज्ञान के द्वारा वे मुक्त होते हैं। उन्होंने कर्मों का संन्यास कर दिया है। वे कोई भी कर्म नहीं करते, फिर भी उनके द्वारा कर्म होते हैं। वे ब्रह्म भूत—ब्रह्म हो जाते हैं। वे देखते हैं कि वही एक स्वयम्भू वस्तु ही सर्व भूत बन रही है। और वह भी केवल उन्हीं के तरह एक है। वे जानते हैं कि उनके सारे कार्य भिन्न—भिन्न व्यक्तियों के भीतर से विश्व प्रकृति की ही लीला का विकास है एवं उनके निज के सारे कर्म भी उसी विश्व—लीला का अंश मात्र है। जैसे प्रातः स्मरणीय परम पूज्यपाद श्री (रामलाल) महाप्रभु जी और श्री गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन जी महाराज। ये महापुरुषद्वय

प्रकृति पार पूर्ण पुरुष ब्रह्म ही तो थे। भगवान कृष्ण कर्मयोग और ज्ञानयोग का समन्वय करते हुए गीता जी में प्रथम दृश्या निर्देश करते हैं कि ज्ञान आलोक नहीं रहने से बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती और न योग में निविष्ट हो सकती है।

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। (२/५२/५३)

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी कलिल को लांघ जाएगी तब तुम श्रोतव्य तथा श्रुत शास्त्रों के विषय में उदासीन हो जाओगे। श्रुति श्रवण से विक्षिप्त तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में निश्चल और स्थिर होगी, तभी तुम्हें योग की प्राप्ति होगी। वेद के सम्बन्ध-में यह बातें साधारण धर्म भाव से इतनी विरुद्ध हैं कि उक्त श्लोकों के विकृत अर्थ करने की बहुत चेष्टाएँ हुई हैं। किन्तु उक्त श्लोकों के पूर्वा पर अर्थ स्पष्ट है। पश्चात् फिर भी देखा जाता है कि ज्ञान को वेद और उपनिषद् से भी बढ़कर कहा गया है—**''शब्दब्रह्मातिवर्तते''**।। वेद और उपनिषद को प्राणाव्य स्वीकार करने से इतने अधिक विरुद्ध दर्शनों और मतों की सृष्टि हो गयी है, जिससे गीता के इस कथन से आश्चर्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि श्रुति मनुष्य की बुद्धि को विपर्यस्त कर देती है। **''श्रुतिविप्रतिपन्ना''**। भारत के पण्डित और दार्शनिक आज भी शास्त्र वाक्य का अर्थ लेकर कितना झगड़ा करते हैं, और कितने विभिन्न सिद्धान्त निकालते हैं। ऐसी दशा में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बुद्धि घबराकर इन सब से मुख मोड़ ले। **''गन्तासि निर्वेदम्'' ''श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च''** किसी वाक्य को न सुनना चाहे और अपने अन्दर ही प्रवेश कर गम्भीर आन्तरिक प्रत्यक्ष भगवान के प्रकाश में सत्य का आविष्कार करना चाहें।

योगशास्त्र में कर्म का अर्थ बहुत अधिक व्यापक है। गीता ने इसी व्यापक अर्थ के ऊपर विशेष जोर दिया है। परमाराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान ने भी योग पर ही जोर देते हुए जीवों को कृत कृत्य किया है। आज भी कर रहे हैं। कर्म योग के द्वारा जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। कर्मयोग के साथ सांख्य शास्त्र विहित सांख्य योग भी आवश्यक है। इसलिए सांख्य योग के साथ—साथ कर्मयोग का अवश्य पालन करना चाहिये।

***

ठाकुर राजकुमार को अशरण शरण

केशवदेव उपाध्याय (वाराणसी)

ग्राम महुआखेड़ा जिला एटा के निवासी ठाकुर राजकुमार सिंह जी हमारे वरिष्ठ गुरुभाई है। इनके एक अनन्य मित्र थे, जो ब्राह्मण थे। ठाकुर राजकुमार सिंह जी अपने इस ब्राह्मण मित्र को पंडित जी कहकर सम्बोधित किया करते थे। आज से कुछ वर्ष पूर्व पंडित जी का शरीर पंच तत्व में विलीन हो गया। पंडित जी ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड विद्वान, महान अध्यात्म प्रेमी एवं श्रद्धालु प्राणी थे। आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज का योग प्रचार कार्यक्रम उन दिनों, जिस समय के कथानक का वर्णन किया जा रहा है; इनके गाँव के ही करीब के गाँव मलावन में हुआ करता था। यद्यपि पंडित जी आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव जी महाराज से स्थूलरूप से दीक्षित नहीं थे तथापि बराबर उनका स्मरण एवं चिन्तन किया करते थे एवं जितने वर्षों तक मलावन का योग प्रचार कार्यक्रम चलता रहा, वे पूर्ण समय के लिये उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। ये मित्र सायंकाल का समय तो अवश्य ही साथ गुजारा करते थे। श्री सिंह का भोजन बिल्कुल आसुरी वृति का था। शायद ही ऐसी कोई रात्रि व्यतीत हुई हो जिसमें रात्रि भोजन में मांसाहार न बना हो। सायंकाल से शिकार किया करते थे एवं रात्रि में वही इनका मुख्य भोज्य पदार्थ था। मदिरा सेवन भी यदा–कदा हुआ करता था। यद्यपि पंडित जी शुद्ध शाकाहारी एवं सरल स्वभाव के थे परन्तु मित्रता के नाते या यों कहा जाय कि पूर्व जन्म के संस्कार वशात सायंकाल साथ ही रहते थे। प्रायः पंडित जी सायंकाल आरम्भ होते ही श्री राजकुमार जी के घर पर आ जाते थे एवं फिर अन्धेरा होने तक साथ ही समय गुजरता था। कभी–कभी जब पंडित जी नहीं आते थे तो श्री सिंह अपनी बन्दूक लेकर उनके घर पहुँच जाते थे। एवं फिर सायंकाल का कार्यक्रम आरम्भ हो जाता था। गुरुदेव के मलावन कार्यक्रमों के दिनों में पंडित जी उसमें भाग लेने नित्य सायंकाल करीब तीन बजे पहुँच जाते थे एवं प्रवचन आरती की समाप्ति पर अपने घर आते थे। उन दिनों जब ये पंडित जी को पता लगाने उनके घर जाते थे तो यह पता लगता था कि एक महात्मा जी का प्रवचन सुनने मलावन गये हैं एवं रात्रि तक वापस आयेंगे, तब ये उनको साथ ले आने के लिये उस कार्यक्रम में पहुँच जाते थे एवं इशारे से बुलाते थे। उनके न आने पर, उनके इन्तजार में कार्यक्रम की समाप्ति तक रूक जाते थे। वापस आते समय ठाकुर साहब कहते थे कि कितने अच्छी प्रकार से भोली–भाली जनता को मूर्ख बनाकर अपने चेलों के साथ खड़ी–मलाई एवं पकवान खा–खाकर मोटा हो गया है, पर आश्चर्य तो यह है कि आप उनसे विद्वान होकर भी उनके चक्कर में फंस गये हैं। पंडित जी इनकी बातों को गलत बतलाकर कहते थे कि अरे मित्र ! तुम नहीं जानते, ये बाल ब्रह्मचारी एवं सिद्धयोगी हैं। पंडित जी अनेक प्रकार के उदाहरण एवं साक्ष्य देकर गुरुदेव भगवान को सिद्ध योगी प्रमाणित करते थे परन्तु श्री राजकुमार जी, इसे बिल्कुल मन–गढ़ंत बातें कहकर उनका उपहास करते थे एवं कहते थे कि ऐसे ब्रह्मचारी तुम्हें ही मुबारक हो ! इस प्रकार का वार्तालाप गुरुदेव के तीन वर्षों के कार्यक्रमों तक लगातार चलता रहा। प्रत्येक साल के कार्यक्रम के दिनों में उपरोक्त वार्तालाप अवश्य–अवश्य होता था।

इनके द्वारा देखे जाने वाले तीसरे वर्ष के योग प्रचार कार्यक्रम में (मलावन में) एक अद्भुत, अलौकिक और

अहैतुकी कृपा से पूर्ण घटना घटित हुई। हुआ यह कि एक विधवा कुम्हार की पत्नी का डेढ़ वर्ष का इकलौता पुत्र मर गया। इस विधवा का मकान उसी गाँव मलावन में था जहाँ श्री गुरुदेव भगवान का कार्यक्रम चल रहा था एवं जिस ग्राम में हमारे बहुत से गुरु–भाई बहनों का निवास है। उस समय श्री गुरूदेव भगवान के प्रवचन का विषय था–**योगी की अतुलीत शक्ति एवं सामर्थ्य।** आराध्यदेव जी ने अनेकानेक योगियों का उदाहरण देकर यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध कर दी थी कि एक योगी **''कर्त्तुम–अकुर्त्तुम् अन्यथा न कर्त्तुम''** की सामर्थ्य रखता है, अर्थात लोक–परलोक के किसी भी कार्य को जिस प्रकार चाहे कर सकता है। बने हुये कार्य को बिगाड़ दे, बिगड़े हुये कार्य को बना दे एवं फिर बने हुए कार्य को बिगाड़ दे। प्रवचन के इसी तारतम्य में उन्होंने योगियों के श्राप से प्राण त्यागने वाले जीवों एवं उनके शुभ संकल्प से मृत्यु को प्राप्त जीव को पुनः जीवित होने के उदाहरण भी दिये थें गाँव के कुछ ऐसे लोगों ने जिन्हें गुरूसत्ता का बोध नहीं था, और जो हमारे आदरणीय गुरू–भाई बहनों द्वारा आराध्यदेव की भगवत् तुल्य आरती–पूजन–प्रार्थना को मात्र ढोंग ही मानते थे, कहने लगे कि इनके शिष्य भी तो इनको पूर्ण सिद्ध योगिराज बताते हैं तो यह महात्मा जी इसे जिन्दा कर दे तो जाने ? ऐसे ही लोगों ने उस विधवा से जिसका डेढ़ वर्ष का बालक रात्रि करीब ९ बजे ही मर गया था, दूसरे दिन प्रातः सात बजे ही मृत बालक के शरीर के साथ योग प्रचार कार्यक्रम स्थल पर भेज दिया एवं खूब अच्छी प्रकार समझा दिया कि कार्यक्रम का आज अन्तिम दिन है, महात्मा जी सें अपने बच्चे को जिन्दा करने की प्रार्थना करना एवं जब तक बच्चा जिन्दा न हो जाय, वहाँ से मत हटना।

प्रातः सात बजे बच्चे के साथ पहुँचते ही उस विधवा ने प्रवचन स्थल पर बिछी दरी (फर्श) पर बच्चे के शव को लिटा दिया एवं जोर–जोर से करूण क्रन्दन के साथ विलाप करने लगी। उसकी आवाज सुनकर आराध्यदेव जी ने उसे अपने निवास वाले कमरे में बुलाया, वह बच्चे के शव के साथ ही आना चाहती थी परन्तु हमारे गुरुभाइयों ने गुरू निवास में प्रवेश करने से रोक दिया। वह दरवाजे से बाहर खड़ी होकर अपनी व्यथा सुनाने लगी एवं गुरूदेव अपने विस्तर से उठकर दरवाजे के पास आ गये एवं दोनों दरवाजे के पल्ले हाथ से पकड़कर शान्त स्वभाव से उसकी बात सुनने लगे। जब विधवा ने अपनी प्रार्थना समाप्त की, गुरूदेव भगवान ने कहा, 'देवी, हम तुम्हारे लाड़ले के मरने से काफी दुःखी हैं परन्तु विधि का विधान ही ऐसा है कि मरा हुआ जीव फिर जीवित नहीं हो सकता।'' विधवा ने कहा, ''महाराज जी, आप सिद्ध पुरूष हैं, ईश्वर हैं ऐसा लोग बताते हैं, आप हमारे बच्चे को किसी प्रकार जीवित करने की कृपा करें। हमारे पतिदेव का शरीर कुछ माह पूर्व छूट गया है एवं यह बच्चा भी मर गया है, यदि आप इसे किसी प्रकार जीवित कर दें तो हमारा जीवन बच सकता है; वरना मैं भी मर जाऊँगी।'' गुरूदेव ने समझाते हुये कहा, ''क्या किया जाय, यह विधि का विधान ही है। जो जन्म लेता है उसका मरना निश्चित है एवं जो मरता है उसका जन्म लेना निश्चित है। इसमें तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है, यह हम अच्छी प्रकार से समझते है कि पुत्र–मृत्यु बहुत बड़ा कष्ट है, हम तुम्हारे दुःख से दुःखी हैं परन्तु विधि के विधान में हम कर ही क्या सकते हैं।''

गुरूदेव भगवान अनेक प्रकार से शास्त्र सम्मत बातें कहकर उसे समझाते रहे परन्तु उनकी सब बातों को अनसुनी करके वह विधवा करूण क्रन्दन के साथ विलाप करते हुये मात्र एक ही प्रार्थना करती थी कि हमारे बच्चे को

आप किसी प्रकार जिन्दा कर दें। अनेक प्रकार से समझाने के बावजूद जब उसके विचार में कोई परिवर्तन नहीं आया तो आराध्यदेव ने वहाँ उपस्थित हमारे गुरुभाइयों से कहा कि लल्ला ! इसे यहाँ से ले जाकर समझाओ और खूब अच्छी प्रकार से बतला दो कि मरा हुआ प्राणी फिर जीवित नहीं हो सकता। गुरुभाई लोक उसे लेकर फिर कार्यक्रम स्थल (पण्डाल) में गये एवं समझाने लगे। परन्तु उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने कहा कि या तो मैं बच्चे को जिन्दा लेकर जाऊँगी या आप लोगों को हमारा भी दाह संस्कार इस बच्चे के साथ ही करना पड़ेगा। गुरुदेव भगवान को उसकी यह बात हमारे गुरुभाइयों ने बतलायी। गुरुदेव भगवान ने कहा कि बड़ी जिद्दी औरत है। बतलाओ लल्ला ! हम कर ही क्या सकते हैं। इसके पश्चात् विधवा पण्डाल में अपने पुत्र–शव को लेकर विलाप करती रही एवं गुरुदेव अपना सामान पैक कराने में व्यस्त रहे तथा हमारे गुरुभाई बहन गुरुदेव की विदाई का प्रबन्ध करने में व्यस्त रहे।

सायंकाल करीब तीन बजे गुरुदेव भगवान, जब जाने से पूर्व योग–योगेश्वर अखिल ब्रह्माण्ड नामक अपने पूज्य गुरुदेव (हमारे–आप के दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज) की आरती कर चुके एवं हमारे गुरु भाई–बहन श्री गुरुदेव भगवान की विदाई वाली आरती आरम्भ करने वाले थे, इसी बीच आराध्यदेव जी ने हमारे एक वरिष्ठ गुरुभाई को बुलाकर धीरे से कान में कहा, "लल्ला, उस विधवा का क्या हुआ, वहीं है या गयी।" उसने कहा प्रभु जी, "वह तो वैसे ही बैठी, अभी रो रही है।" कहावत है "आ गयी लहर शिवा के मन में" आखिर दयासागर को दया आ ही गयी। उन्होंने हमारे उस गुरुभाई को पुण्य प्रसाद देकर कहा, "लल्ला उस विधवा को लेकर तुम किसी योग्य बैद्य के पास अभी चले जाओ, एवं खूब अच्छी प्रकार से इसका परीक्षण कराओ; हो सकता है कि इसके प्राण कोष कहीं रुक गये हो एवं वापस आ जाय।

कहावत है "सिद्ध वचन पलटे नहीं, पलट जाय ब्रह्माण्ड" वही हुआ जो आराध्यदेव जी का संकल्प था। हमारे गुरुभाई उस विधवा को, उसके शिशु के शव के, साथ लेकर प्रमुख वैद्य के पास तत्काल प्रस्थान किये। परन्तु आश्चर्य, महान आश्चर्य ठीक चार बजे, जिस समय श्री गुरुदेव भगवान ने मलावन ग्राम की सीमा समाप्त की; उसी समय उस बच्चे के शरीर में कम्पन्न हुआ एवं धीरे–धीरे वह बच्चा जिन्दा हो गया। हमारे गुरुभाई उस विधवा महिला को उसके जीवित डेढ़ साल के बच्चे के साथ लेकर रास्ते में से ही वापस उस स्थान पर आ गये; जहाँ आराध्यदेव जी का;योग प्रचार कार्यक्रम (मलावन) के समय निवास स्थान था। गुरुदेव जी चले गये थे परन्तु वहाँ इस अलौकिक कृपा को देखने कई सौ नर–नारी एकत्र हो गये एवं सभी ने श्री प्रभुकृपा को मुक्त कंठ से बार–बार वर्णन किया एवं उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

कर्ण परम्परा से यह बात सुनकर ठाकुर राजकुमार जी भी मलावन गाँव पहुँच गये एवं इस असम्भव घटना को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा एवं आराध्यदेव जी को अपने द्वारा कहे गये अपशब्दों एवं कुविचारों के लिये उन्हें बहुत ग्लानि हुई। उन्होंने मन ही मन बारम्बार क्षमा याचना की। इस घटना ने उनके मानस पटल पर ऐसी छाप छोड़ी कि श्री प्रभु जी के चरणों में उनकी श्रद्धा का बीज अंकुरित हो गया। उन्होंने तत्काल प्रतीज्ञा कर ली कि जब तक सिद्ध योगिराज जी के स्थूल दर्शन नहीं कर लूंगा, तब तक अन्न–जल ग्रहण नहीं करूँगा। पंडित जी इस अद्‌भुत घटना को देखकर अपने घर चले गये थे। श्री राजकुमार जी आराध्यदेव का पता लगाने श्री पंडित जी के घर गये एवं अपने मन के पूरे भाव बतलाने के बाद उनसे यह पूछा कि इस समय योगिराज

वो कहाँ मिलेंगे। पंडित जी ने कहा, "उनका ठीक–ठीक पता तो सवाई धाम से ही लग पावेगा, वैसे वे ब्रह्मचारी जी यहाँ का कार्यक्रम समाप्त कर अपने सवाई आश्रम ही गये हैं।" श्री सिंह, पंडित जी के घर से चलकर सीधे सवाई आश्रम पहुँच गये। आश्रम पर जब उन्होंने आदरणीय ब्रह्मचारी भाइयों से जानकारी प्राप्त की तो पता चला कि श्री गुरुदेव भगवान एकान्तवास करने वृन्दावन धाम गये हुये हैं। परन्तु आश्रमवासी भाइयों को वृन्दावन में गुरुदेव भगवान के निवास स्थान का ठीक–ठीक पता नहीं ज्ञात था, अत: उन्होंने सिर्फ इतना ही बतलाया की वहाँ किसी धर्मशाला या मन्दिर में निवास कर रहे होंगे।

श्री सिंह सवाई आश्रम से चलकर वृन्दावन धाम पहुँच गये। अब रात्रि आरम्भ हो गयी थी, अत: इस समय ढूंढना उचित न समझकर उन्हीं के चिन्तन एवं स्मरण में रात्रि व्यतीत की एवं प्रात: सूर्योदय से पूर्व से ही ढूंढना आरम्भ किया एवं सूर्यास्त तक ढूंढते रहे। उन्होंने अपनी समझ से कोई भी ऐसा स्थान नही छोड़ा जहाँ बाहर से आने वाले तीर्थयात्री या पथिक के ठहरने की सम्भावना हो। इनका शरीर थककर चूर–चूर हो गया परन्तु श्री प्रभु के दर्शन नहीं हो सके। ये विश्राम करने की नीयत से एक मंदिर के चबूतरे पर बैठ गये एवं विचार करने लगे कि हे प्रभु ! यदि तुम सिद्ध योगिराज हो तो क्या आप को यह पता नहीं है कि मैं केवल आप का दर्शन करना चाहता हूँ। आप से कुछ माँगने थोड़े ही आया हूँ। हमें आप से कुछ भी नहीं चाहिये। मैं सिर्फ आप का दर्शन करना चाहता हूँ। उन्होंने मन ही मन प्रार्थना की कि यदि आप सर्व समर्थ एवं अन्तर्यामी है तो अब हमें दर्शन देने की कृपा करें वरना मैं लिफाफा में पत्र लिखकर आप के सवाई धाम पर भेजने जा रहा हूँ एवं उसमें यही बात लिखूँगा कि ऐ महात्मा जी के शिष्यों ! तुम्हारे गुरुदेव झूठे है; कुछ नहीं जानते, कोई शक्ति नहीं रखते। केवल तुम लोगों को एवं अन्य शिष्यों तथा भोली भाली जनता को मूर्ख बनाकर खड़ी–मलाई खाते है एवं गलत ही अपनी पूजा करवाते है। यह विचार पक्का कर वह लिफाफा लेने की नीयत से स्टेशनरी की दुकान की तलाश में निकल पड़े। अभी मुश्किल से दस कदम चले होंगे कि खूब–बड़े–बड़े गेंदे की घुटनों तक माला पहले हुये आनन्दकन्द श्री सद्गुरुदेव जी महाराज लगभग बीस कदम की दूरी पर आगे दिखलायी दिये। उन्होंने अपनी गर्दन तिरछी करके पीछे आते हुये श्री सिंह को देखा और फिर आगे चलना आरम्भ किया।

श्री सिंह ने खूब अच्छी प्रकार से पहचान लिया कि ये सवाई धाम के सिद्ध योगी ब्रह्मचारी जी ही है। ये उनके चरण स्पर्श करने एवं अपने पूर्व के गलत मनोभावों के लिये क्षमा याचना करने तेजी से चलने लगे। परन्तु ये जितने तेज चलते थे, उसी अनुपात में श्री प्रभुजी भी उसी रास्ते पर बढ़ते जाते थे। श्री सिंह दौड़कर यह दूरी कम किये एवं मात्र जब आठ कदम का फासला रहा श्री प्रभुजी एक चौराहा पड़ने पर बायीं तरफ मुड़ गये। श्री सिंह चौराहे पर पहुँच कर जब बायीं तरफ की सड़क पर देखने लगे तो आराध्यदेव जी कहीं भी दिखलायी नहीं दिये। बायीं तरफ के रास्तो एवं गलियों में आराध्यदेव जी महाराज को श्री सिंह ने करीब एक घंटे तक ढूंढा एवं फिर बैठकर सोचने लगे कि हमने तो केवल यही प्रार्थना की थी कि आप एक बार दर्शन देने की कृपा करें, सो उन्होंने हमें दर्शन तो दे ही दिये। इसके पश्चात् वे अपने घर आ गये एवं श्री प्रभु जी का अनवरत स्मरण एवं चिन्तन करते रहे।

एकान्तवास से वापस सवाई धाम पर श्री प्रभु जी जब पहुँचे तो उन्हें श्री सिंह का एक पत्र मिला। पत्र में उन्होंने स्थूल दर्शन लाभ की प्रार्थना की थी। श्री प्रभु जी ने उन्हें पत्र द्वारा सवाई आश्रम आने की आज्ञा प्रदान की। श्री सिंह,

प्रभु जी का आज्ञा पत्र पाते ही सवाई धाम पहुँच गये एवं स्थूल दर्शन प्राप्त कर अपनी वांछित अभिलाषा पूर्ण की। उन्होंने आराध्यदेव जी की आज्ञा से सवाई धाम पर ही रात्रि निवास किया। प्रात:काल उन्होंने श्री चरणों में प्रार्थना किया, "प्रभो ! गुरुदीक्षा देकर, हमें अपनी अशरण–शरण प्रदान करने की कृपा की जाय" श्री प्रभु जी ने कहा, "लल्ला दीक्षा तो हम तुम्हें तभी देंगे जब तुम तीन साल तक बिल्कुल ही मांसाहार एवं मदिरापान न करो। तुम्हारे द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा हम दीक्षा के चार साल बाद ही लेंगे।" आराध्यदेव जी की यह वाणी सुनकर जब श्री सिंह उदास एवं निराश होते दिखे तो श्री प्रभु जी ने मुस्कराते हुये कहा, "लल्ला ! उदास होने की कोई बात नहीं है, हम तुम्हें अवश्य ही दीक्षा देंगे। श्री प्रभु जी (हमारे आप के महाप्रभु जी) का स्मरण एवं चिन्तन करते हुये समय व्यतीत करो एवं जब भी समय मिले आश्रम आओ एवं आश्रम सेवा किया करो। यह सिद्धपीठ है, इसकी सेवा निष्फल नहीं जाती।"

श्री राजकुमार जी ने आराध्यदेव जी की आज्ञाओं का अक्षरश: पालन किया जिसके परिणाम स्वरूप तीन साल से पूर्व ही उनकी दीक्षा हो गयी एवं दीक्षा के एक–दो वर्ष बाद ही श्री गुरुदेव भगवान इनके परिवार में श्री प्रभु कृपा से ओत–प्रोत अनेक अलौकिक एवं अद्भुत घटनायें घटित हुई हैं जिसमें इनकी बच्ची नीलम की प्राणदान की घटना विशेष स्थान रखती है।

श्री राजकुमार सिंह का बड़ा पुत्र शंकर, श्री गुरूदेव भगवान का लाड़ला शिष्य है। इसका विवाह संस्कार आराध्य देव जी की इच्छानुसार उनके आदेशित स्थान पर सम्पन्न हुआ। इसके विवाह के कुछ दिनों बाद ही नीलम की तबियत खराब होना आरम्भ हो गयी एवं इतनी खराब हो गयी कि डाक्टरों ने कहा कि अब यह जिन्दा नहीं बचेगी। वर्ष १९७९ के जून महीने में नौ दिन में मात्र पाँच या छ: घण्टे ही उसे नींद आयी होगी। तबियत ज्यादा खराब होने पर उस पर श्री महाप्रभु जी का आवेश हो जाता था। इस आवेश में उसने कई भविष्य वाणियाँ कीं जो अक्षरश: सत्य हुयी। एक दिन इस आवाज को परिवार के सदस्यों ने टेप करना चाहा तो आवेषित नीलम ने कहा, "तुम लोग इसे टेप नहीं कर सकते एवं फिर मुस्कराते हुये कहा अच्छा, टेप करके ही देख लो।" बाद में उन्होंने उस टेप को सुना तो वह बिल्कुल अस्पष्ट था। इस बीमारी की हालत में काल कई बार उसका प्राण लेने आया, परन्तु नीलम के नेत्रों ने प्रत्यक्ष देखा कि महाप्रभु जी के भय से वह मकान के अन्दर प्रवेश नहीं कर सका। एक दिन तो नीलम के हाथ–पैर बिल्कुल ठंडे पड़ गये एवं उसने कहा कि अब हमें प्रभु लोक में जाना है। परिवार के सदस्यों के इस अनुरोध पर कि यदि तुम मर जावोगी तो गांव के लोग यह कहेंगे कि यह परिवार तो कहता है कि हमारे गुरूदेव एवं दादा गुरूदेव सर्व समर्थ योगी हैं, फिर बालिका को क्यों नहीं बचा लिया। इससे गुरुजी एवं महाप्रभु जी की बदनामी होगी। नीलम ने हाथ जोड़कर कहा कि हे प्रभु जी (महाप्रभु जी) ! यदि हमारे शरीर छूटने से आप की बदनामी हो तो हमें अभी जिन्दा रहने देने की कृपा करें। फिर आँख खोल कर कहा कि लो, महाप्रभु जी ने मुस्कराते हुये स्वीकृति दे दी। २६ जून के लगभग जब वह आश्रम गयी तो गुरू जी महाराज की करुण कृपा से स्वस्थ होकर वापस आयी।

अहैतुकी कृपानिधि की करुण कृपा से अब यह परिवार आनन्द से जीवन यापन करते हुये लोक एवं परलोक सुधार रहा है। श्री प्रभु कृपा से यह परिवार धन्य हो गया है एवं सर्व समर्थ की ऐसी कई कृपायें इस परिवार पर हुई हैं।

***

संत ज्ञानेश्वर 'एक महान योगी'

जय नारायण (लखनऊ)

सिद्धों का अवतरण महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है। आदि शंकराचार्य, गुरुनानक, कबीर, सन्त तुलसीदास, सूरदास आदि विभूतियाँ अपनी अध्यात्मिक रचनाओं एवं कृतियों से अपने–अपने समय में तथा पश्चात् भारत के जनमानस में क्रान्तिकारी आध्यात्मिक अजस्त्र धारा प्रवाहित करते चले जा रहे है इसी श्रृंखला में संत ज्ञानेश्वर महाराज ने दक्षिण भारत के लोगों के कल्याण हेतु श्री मद्भगवद्गीता का भाष्य **'ज्ञानेश्वरी,** मराठी लोक भाषा में लिख कर महाराष्ट्रवासियों के आध्यात्मिक उत्थान में एक महान योगदान प्रस्तुत किया।

संत ज्ञानेश्वर महाराज एवं उनके भाइयों तथा बहन के प्रारम्भिक जन्मतिथि को संतज्ञानेश्वर के समकालीन महाराष्ट्र की विख्यात महिला संत जनाबाई जो श्री नामदेव महाराज के घर पर ही निवास करती थी, ने अपने अभंग में स्पष्ट करती है कि सबसे बड़े भाई निवृत्तिनाथ शालिवाहन शक ११९०, सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ११९३ (सन् १२७२ ई०), तीसरे भाई सोपान देव ११९६ और छोटी बहन मुक्ताबाई ११९९ में जन्म लिये।

संत ज्ञानेश्वर का मूलग्राम 'ओपेगांव, पैठाग (प्रतिष्ठान) नामक नगरी से १० किलोमीटर दूर गोदावरी तट के उत्तरी भाग पर स्थित है। वहाँ वत्स गोत्र की माध्यन्दिन यजुर्वेदीय शाखा के ब्राह्मण परिवार में संत ज्ञानेश्वर महाराज का अवतरण हुआ। इनके प्रपितामह त्र्यम्बक राव कुलकर्णी ने नाथ सम्प्रदाय के श्री गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। इनके पितामह श्री गोविन्द राव ने नाथ सम्प्रदाय की दीक्षा श्री गहिनीनाथ (नाथ सम्प्रदाय के चौथे महापुरुष) से ली थी। इनके पिता श्री विट्ठल पन्त भी विरक्त पुरुष थे। अपने विरक्त भाव की दशा में इन्होंने अपने माता–पिता से तीर्थयात्रा की अनुमति प्राप्त कर प्रभास, सोमनाथ, गोकुल, वृन्दावन, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ क्षेत्रों का दर्शन किया। तीर्थ यात्रा के पश्चात् श्री विट्ठल पंत आलन्दी आकर रहने लगे। कुछ संयोग ऐसा बना–एक दिन श्री विट्ठलपंत सिद्धोपन्त के घर पर भोजन के लिये निमंत्रित थे। रात्रि में सिद्धोपंत को पंटरपुर (पैठल) के साक्षात पाण्डुरंग भगवान ने स्वप्न में आज्ञा दी कि घर पर पधारे श्री विट्ठल पंत को अपनी रुक्मिणी नामक कन्या का कन्यादान कर दे। दूसरे दिन रात्रि में श्री विट्ठलपंत को भी स्वप्न में पंटरपुर के साक्षात पाण्डुरंग भगवान ने सिद्धोपन्त की कन्या रुक्मिणी से विवाह कर लेने की आज्ञा दी। विवाह सम्पन्न हुआ। दोनों दम्पत्तियों ने पाण्डुरंग भगवान का दर्शन किया। श्री विट्ठलपन्त ने अपने निज ग्राम ओपेगांव में विवाह के बाद सात वर्ष बिताये। गृहस्थाश्रम में रहते हुये श्री विट्ठल पंत ने अन्तरंग विरक्तभाव के कारण अपनी सहधर्मिणी से काशी जाकर सन्यास लेने की अनुमति मांगी। बार–बार आग्रह करने पर पत्नी ने असावधानी वश पति को हाँ कह दिया। पत्नी के कहते ही श्री विट्ठलपंत किसी को सूचित किये बिना शीघ्र ही काशी पहुँच गये और श्री रामानन्द स्वामी से सन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु महान् पतिव्रता रुक्मिणी बाई के उग्र तप के फलस्वरूप एक सन्यासी गृहस्थाश्रमी हो गया। रुक्मिणी

बाई के उग्र अनुष्ठान के वशीभूत पाण्डुरंग भगवान ने उनके पति श्री विट्ठलपंत को सन्यास दीक्षा देने-वाले साक्षात गुरुदेव रामानन्द स्वामी को प्रेरित कर तीर्थ यात्रा के बहाने आलन्दी भेद दिया जब रुक्मिणी बाई, सुवर्ण पीपल की परिक्रमा कर रही थीं तब उन्होंने वहाँ गुरुदेव रामानन्द स्वामी को देखा। सन्त एवं सिद्धों के शुभाशीष पाने हेतु स्वामी जी को रुक्मिणी बाई ने अभिवादन किया। स्वामी जी ने शुभाशीष देते हुये कहा कि 'पुत्रवती भव'। सद्गुरुदेव की वाणी सार्थक होती है। गुरुदेव रामानन्द स्वामी के आदेश के फलस्वरूप श्री चैतन्य स्वामी सन्यासी फिर से पूर्ववत् श्री विट्ठलपंत के नाम से गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। सद्गुरुदेव के आदेशानुसार श्री विट्ठलपंत ने लोकनिन्दा एवं जनक्षोभ का सामना करते हुये घोर प्रतिकूल परिस्थिति में गृहस्थ जीवन चलाया।

विवाह के पूर्व आलंदी में जो स्वप्न दृष्टिगत हुआ था, उसके अनुसार इस अलौकिक माता-पिता ने चार अलौकिक, दिव्य एवं महान् सन्तानों (निवृत्तिनाथ, संत ज्ञानेश्वर महाराज, सोपानदेव एवं मुक्ताबाई) को जन्म दिया। इन भाई बहनों के स्वयं भू जीवन का रहस्य उनके माता-पिता की वैराग्यमय तपस्या में निहित है।

चिन्तन-मनन की दृष्टि से संत ज्ञानेश्वर महाराज के जीवन-चरित्र को स्थूलरूप से चार रूपों में दृष्टिगत किया जा सकता है-

(१) संघर्षमय प्रतिकूल बाल्यावस्था, पैठल में निवास होते ही लोकमान्यता की उपलब्धि (कई एक अलौकिक यौगिक घटनायें घटित होने की पृष्ठभूमि में)।

(२) सनातन वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन के लिये शाश्वत साहित्य का सृजन तथा दक्षिण भारत में योग-प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से श्री मद्भगवद्गीता के लगभग ७०० संस्कृत श्लोकों का भाष्य लोक भाषा मराठी, में दस हजार ओवियों में 'ज्ञानेश्वरी', में प्रद्भूत करना।

(३) तीर्थ माला के माध्यम से भारत भ्रमण एवं धर्म प्रचार व प्रसार।

(४) विश्व कल्याण हेतु संजीवन-समाधि।

श्री विट्ठल पंत ने सन्यास त्याग कर गृहस्थाश्रम में पदार्पण किया था, जो शास्त्र एवं धर्म विरुद्ध क्रिया थी। समूचे परिवार को जाति निकाला कर दिया गया था। इस प्रकार गाँव के बाहर अकेले पन का जीवन व्यतीत करना पड़ा। इस सहिष्णु परिवार ने शान्ति से सब कुछ सह लिया। बालकों के उपनयन संस्कार के अवसर आने पर श्री विट्ठल पंत ने ब्राह्मण समुदाय से अनुमति मांगी। शास्त्रों में संन्यासी के बालकों के उपनयन संस्कार का प्राविधान न होने से उन्हें सुझाव दिया गया कि पैठल के पंडितों से उपनयन-संस्कार की अनुमति प्राप्त करें।

जिस समय श्री विट्ठल पन्त समूचे परिवार के साथ पैठल की ओर जा रहे थे। उसी समय मार्ग में त्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग तीर्थ स्थान पर परिवार ने अनुष्ठान करने का निश्चय किया। त्र्यम्बकेश्वर निकट घने जंगल में ब्रह्मगिरि पर्वत है, जिसकी परिक्रमा करते समय एकाएक एक विशालकाय सिंह आकर खड़ा हो गया। छोटे बच्चों को हड़बड़ी में बचाने में व्यस्त होने से श्री विट्ठलपंत एवं पत्नी रुक्मिणी बाई के बड़े लड़के निवृत्तिनाथ का ध्यान ही नहीं रहा। निवृत्तिनाथ वहाँ से हट कर अजगी पर्वत में स्थित श्री गहिनीनाथ

की गुफा में पहुँच गये। श्री गहिनीनाथ (नाथ सम्प्रदाय के चौथे महासिद्ध गुरु) श्री निवृत्तिनाथ को देखते ही कहा, बेटा ! "मैं तेरा ही इन्तजार कर रहा था ! आओ मैं तुम्हें आध्यात्मिक एवं यौगिक विद्या से निहाल करूँ" श्री गहिनीनाथ ने श्री निवृत्तिनाथ को शक्तिपात द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या के रहस्य के अनुभव से मालामाल कर दिया। इसके पश्चात् भी निवृत्तिनाथ अपने माता–पिता से आकर मिले। कालान्तर में श्री निवृत्तिनाथ से ज्ञानेश्वर महाराज ने ब्रह्मज्ञान की दीक्षा ली। श्री निवृत्तिनाथ के लिये प्रतीक्षा रत परिवार ने त्र्यम्बकेश्वर तीर्थ स्थान से पैठल के लिये प्रस्थान किया। परिवार ने वहाँ के एक निर्धन परिवार श्री कृष्ण पन्त जी के यहाँ निवास किया। आश्चर्य की बात यह हुई कि श्री कृष्ण पंत जी की दरिद्रता देखते ही देखते गायब हो गयी।

पैठल के ब्राह्मण समुदाय ने ब्रह्म सभा में इन चारों भाई बहनों के उपनयन संस्कार एवं शुद्धि पत्र देने के विषय में अस्वीकृति जतायी और इस परिवार के अलौकिक यौगिक शक्ति का उपहास भी किया। उसी क्षण 'ज्ञान्या, नाम एक भैंसा पीठ पर पानी की पखाल लिये वहाँ से जा रहा था। एक पण्डित ने खिल्ली उड़ाते हुये सन्त ज्ञानेश्वर महाराज से पूछा "तुम दोनों में क्या भेद है।" सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने तत्काल उत्तर दिया–'आत्मदृष्टि से हममें कोई भेद नहीं है।' पंडित ने कहा–"यदि कोई भेद नहीं है, तो भैंसे के पीठ पर लगाये गये कोड़ों के निशान तेरी पीठ पर दिखाई देने चाहिये।" वैसा ही हुआ कि कोड़े लगाये जाने पर संत ज्ञानेश्वर महाराज के पीठ पर कोड़ों के निशान दिखाई देने लगे। यहाँ तक उन्हें चुनौती दी गयी कि वह भैंसे को मनुष्य की तरह बुलवायें। अल्पायु संत ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथ के मार्ग दर्शन में भैंसे से धाराबाही वाणी में वेद की रचनाओं को बुलवाते हुए ब्रह्म समाज को दिखा दिया।

इस अलौकिक दृश्य को देखकर शास्त्र सम्पन्न पण्डित अवाक् रह गये और उनका अभिमान पिघल गया। ब्रह्मवृन्द उन चार भाई बहनों के शरण में आ गये और उनके चरणों में नतमस्तक हो गये। इस प्रकार दक्षिण में काशी नाम से विख्यात पैठल में उनका कल्पनातीत स्वागत एवं सम्मान हुआ। पैठल में श्री कृष्ण पंत जी कि गृह में निवास करने वाले इन भाई बहनों के दर्शन हेतु दूर–दूर से लोग आते रहे। इसी बीच श्री कृष्ण पन्त जी के घर श्राद्धतिथि आ पड़ी। संन्यासी के बच्चों के रहने और उनके अनादि के स्पर्श के कारण पुरोहित वर्ग ने तर्पण क्रिया करने तथा भोजन लेने से इन्कार कर दिया और श्री कृष्ण पन्त जी को समाज से बहिष्कृत कर दिया। श्री कृष्ण पंत जी की चिन्ता को देखकर संत ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने संकल्प से पितरों को आहूत किया। आश्चर्य ! एक–एक कर के सभी पितर साक्षात आये और आसनों पर विराजमान हो गये। आस–पास रहने वाले एकत्र भीड़ ने स्वर्गवासी सभी पितरों द्वारा अन्न ग्रहण करते हुये और सन्त ज्ञानेश्वर महाराज के चरणों में नतमस्तक होते हुये देखा। पुरोहितों ने पश्चाताप से विगलित हृदय होकर क्षमा–याचना की और चारों भाई बहनों को अपरिमित आदर भाव प्रकट किया।

श्री विट्ठल पन्त सपरिवार पैठल से प्रस्थान करते समय गोदावरी के दूसरे तट पर ज्यों ही पहुँचे, अचानक उनके गुरुदेव रामानन्द स्वामी से भेंट हो गयी। सद्गुरुदेव ने अपने शिष्य श्री विट्ठलपंत को गृहस्थाश्रम का कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् देह सार्थक करने का आदेश दिया और कहा कि तेरे सभी पुत्र

त्रिभुवन कीर्ति प्राप्त कर चुके हैं। श्री विट्ठलपंत जी सहधर्मिणी के साथ व सद्गुरुदेव जी के साथ–साथ काशी की ओर चल दिये और चारों भाई बहन भी माता–पिता को अंतिम अभिवादन करके नेवासाग्राम के मोहिनी राजा के मन्दिर पहुँचे। वहाँ उनके दर्शन हेतु जन समूह इकट्ठा हो गया। वहाँ संत ज्ञानेश्वर महाराज ने बाबर जी नामक एक ग्राम लेखक के शव को जीवित कर के अर्थी पर खड़ा कर दिया। संत ज्ञानेश्वर महाराज ने बाबा जी को बीजमंत्र देकर उन्हें साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप चिन्मय मूर्ति के दर्शन करा कर कृतार्थ कर दिया और बाबा जी का नाम ''बाबा जी चैतन्य,, रखा तथा निर्विकल्प समाधि सदा बने रहने का आशीर्वाद दिया।

यौगिक संकल्प की अविस्मर्णीय घटना यह घटित हुई कि ग्राम नेवासा के मोहिनी मन्दिर के स्तंभ पर संत ज्ञानेश्वर महाराज ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भाष्य, मराठी भाषा में 'ज्ञानेश्वरी' एक ही रात में प्रकट किया। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने बाबा जी चैतन्य को स्तंभ पर लिखी 'ज्ञानेश्वरी' को उतार कर दो प्रतियां बनाने का आदेश दिया। बाबा जी चैतन्य ने अपनी दिव्य दृष्टि एवं लेखन कौशल से केवल तीन दिन में ही स्तम्भ पर से देख कर दस हजार ओवियों वाली ज्ञानेश्वरी की दो प्रतियां लिख कर दे दीं। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज के प्रमुख साहित्य में 'ज्ञानेश्वरी, (भावार्थ दीपिका) चांगदेव पासष्ठी, 'अमृतानुभव, 'हरिपाठ, और फुटकर अभंग है। अमृत जैसे ब्रह्मानुभव की अनुभूति सबको हो, इसलिये उन्होंने 'अमृतानुभव, नामक ग्रन्थ लिखा। योग एवं राममार्ग का अनुसरण कर जो प्राणी अज्ञान में भटक रहे थे, उनके लिये 'चांगदेव पासष्ठी, लिखी। तर्क शुद्ध तत्त्वज्ञान एवं उपासना पद्धति की जानकारी हेतु 'हरिपाठ' की रचना की।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने लगभग २१ वर्ष की अल्पायु ही में पंटरपुर (पैठल) की आषाढी एकादशी के मेले के समय अपने इष्टदेव पंढरीनाथ (पाण्डुरंग भगवान) से समाधि लेने की आज्ञा प्राप्त कर आलंदी प्रस्थान किया और कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को सभी साधु सन्तों एवं वारकारियों के बीच संजीवन समाधि लिया। संजीवन समाधि लेते समय संत ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने प्रिय ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी, को ही अपने सम्मुख रखा। समाधि लेने के बाद सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने देखा कि इहलोक में पढ़ी जाने वाली ज्ञानेश्वरी में प्रक्षिप्त अशुद्धियों का समावेश हो गया है। अतः उन्होंने लगभग ३०० वर्षों के उपरान्त तत्कालीन सन्त श्री एकनाथ महाराज को ग्रन्थ से प्रक्षिप्त एवं शुद्ध अंश निकालकर शुद्ध स्वरूप देने का आदेश स्वप्न में दिया।

संत ज्ञानेश्वर महाराज के संजीवन समाधि के समय साक्षात पाण्डुरंग ने यह कह कर आश्वस्त किया कि मेरा निवास कार्तिक शुक्ल एकादशी को पंटरपुर में और कार्तिक कृष्ण एकादशी को आलंदी में रहेगा। इसी कारण वारकरी पंटरपुर में कार्तिक, शुक्ल एकादशी को एकत्र होते ही और पन्द्रह दिन मेले के बाद आलंदी के लिये प्रस्थान कर देते हैं। कार्तिक कृष्ण एकादशी से १५ दिन मेला आलंदी में रहता है जहाँ अखण्ड हरिनाम–संकीर्तन, भजन एवं प्रवचन होते हैं। दक्षिण भारत के आलंदी में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज का संजीवन समाधि स्थल बहुत ही पुण्य शाली एवं समाधि प्राप्त करने का सुगम साधन माना जाता है। ऐसा ही सन्त ज्ञानेश्वर महाराज का संकल्प था। संत ज्ञानेश्वर महाराज का यह भी आशीर्वाद है कि जो 'ज्ञानेश्वरी' को श्रद्धापूर्वक पढ़ेगा, उसे भी स्वतः समाधि लाभ होगा।

***

नम्र-निवेदन

सिद्धयोग के स्तम्भ हमारे विद्वान लेखक एवं मनीषी ही हैं। गुरुकुल की सेवा के रूप में उनका प्रयत्न सदा ही स्तुत्य रहता रहा है। उनसे निवेदन है कि वे अपने लेख यथा संभव प्रतिमाह भेजें ताकि लेखों का अभाव न रहे। उनकी इस सारस्वत सेवा के लिये सिद्धयोग प्रबन्ध मण्डल सदा ही आभारी रहेगा।

लेखकों के साथ–साथ हम अपने सभी ग्राहकों से भी निवेदन करते हैं कि वे नियमित ग्राहक बने रहकर **सिद्धयोग** के प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देते रहें। यदि वार्षिक शुल्क अभी तक नहीं भेजा है तो, अविलम्ब भेजें तथा नये ग्राहक बनाकर गुरू परिवार की सेवा में भागीदार बनें। सिद्धयोग का लक्ष्य है, योग विद्या के अमर सिद्धान्तों के जिज्ञासू समुदाय में प्रकाशित व प्रसारित किया जाये, ताकि उनको पढ़कर वे योग के यथार्थ स्वरूप को समझें तथा उन पर चलकर शाश्वत एवं दिव्य जीवन की ओर अग्रसर हों। ग्राहकों को अपना शुल्क **व्यवस्थापक सिद्धयोग** अथवा **आचार्य दासलाल शर्मा, सम्पादक सिद्धयोग, सिद्धयोग कार्यालय, श्री सिद्धगुफा सवांई** के नाम से ही भेजने चाहिये।

जय गुरुदेव !

व्यवस्थापक

सिद्धयोग

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008

जुलाई, 1999

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ---------------------

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधियो
न चास्य कश्चिज्जनिता च चाधिपः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/६

जगत में कोई भी उस परमात्मा का स्वामी नहीं है, उसका शासक भी नहीं है और उसका चिन्ह विशेष भी नहीं है, वह सबका परम कारण तथा समस्त करणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है। कोई भी न तो इसका जनक है और न स्वामी ही है।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326